त्रैमासिक • जनवरी-मार्च 2008
इस अंक का मूल्य-20 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

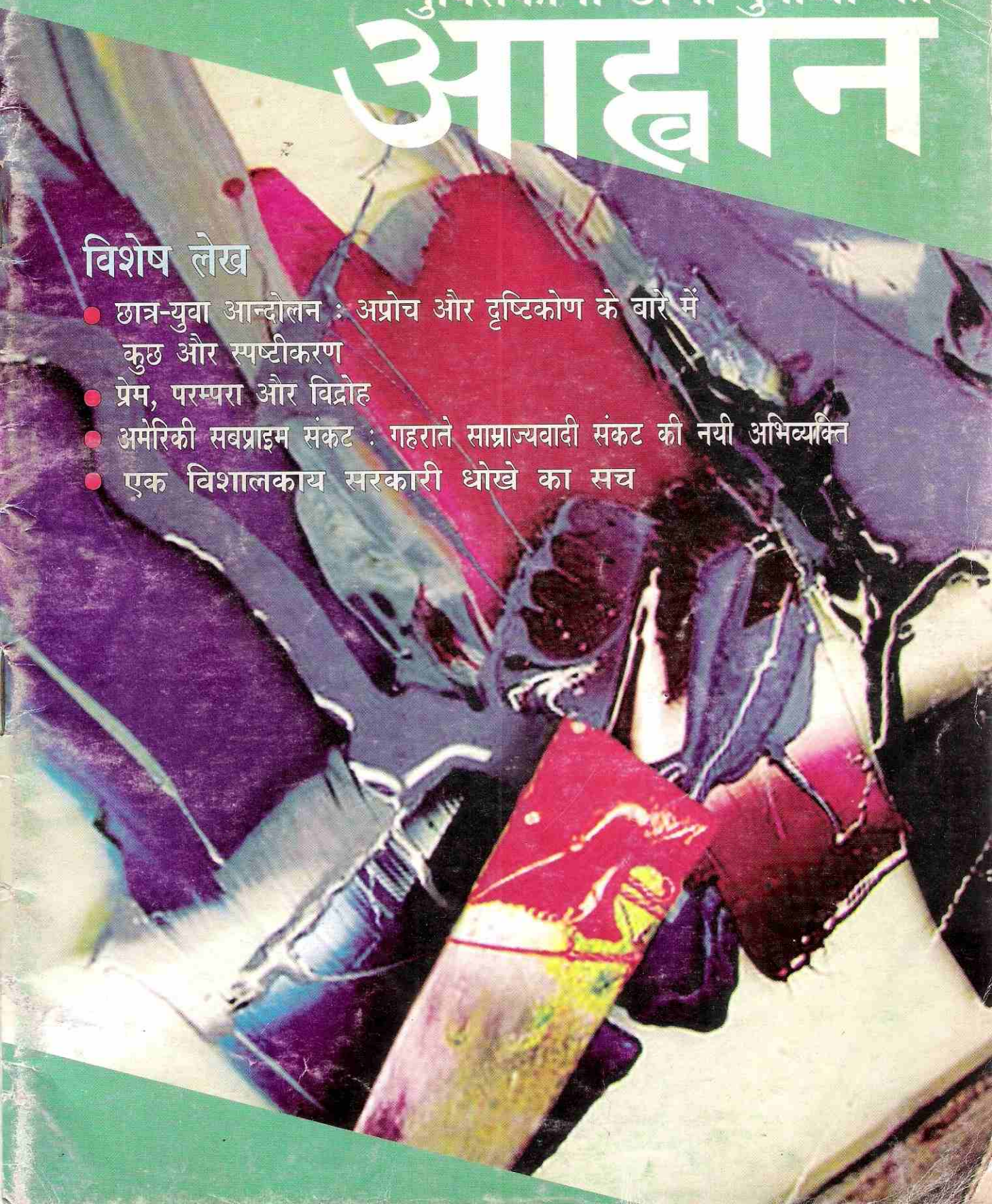

विशेष लेख

- छात्र-युवा आन्दोलन : अप्रोच और दृष्टिकोण के बारे में कुछ और स्पष्टीकरण
- प्रेम, परम्परा और विद्रोह
- अमेरिकी सबप्राइम संकट : गहराते साम्राज्यवादी संकट की नयी अभिव्यक्ति
- एक विशालकाय सरकारी धोखे का सच

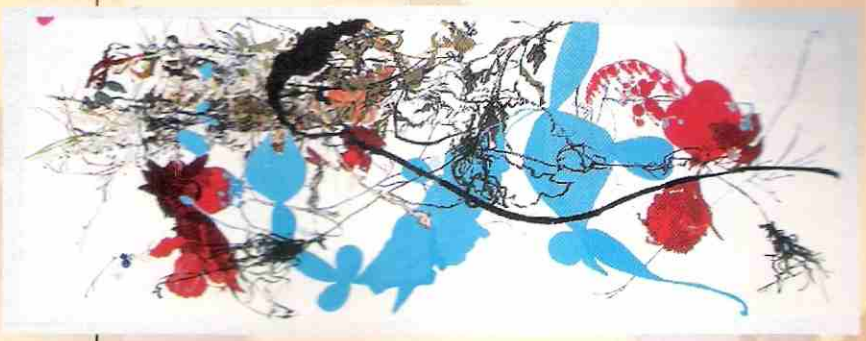

धरती चाक की तरह घूमती है।
ज़िन्दगी को प्याले की तरह
गढ़ता है समय।
धूप में सुखाता है।
दुःख को पीते हैं हम
चुपचाप।
शोर-गुल में मौज-मस्ती का जाम।
प्याला छलकता है।
कुछ दुःख और कुछ सुख
आत्मा का सफ़ेद मेज़पोश
भिगो देते हैं।
कल समय धो डालेगा
सूखे हुए धब्बों को।
कुछ हल्के निशान
फिर भी बचे रहेंगे।
स्मृतियाँ
अद्‌भुत ढंग से
हमें आनेवाली दुनिया तक
लेकर जायेंगी।
सब कुछ दुहराया जायेगा फिर से
पर
हूबहू
वैसे ही नहीं।

शशि प्रकाश

आह्वान के बारे में कुछ महत्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ 'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नई क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ कायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी कायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमंत्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नई क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में कैद नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

➢ 'आह्वान' जिन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत- मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिए नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

इस अंक में

अपनी ओर से

छात्र-युवा आन्दोलन : अप्रोच और दृष्टिकोण के बारे में कुछ और स्पष्टीकरण 5

पाठक मंच 4

शिक्षा जगत

कैम्पस के अन्दर भावी पुलिसकर्मियों का ताण्डव 15

सामयिकी

रामसेतु : किसके हेतु?? 12

संसदीय वामपंथियों का अमेरिका-प्रेम 16

एक विशालकाय सरकारी धोखे का सच 22

'हिन्दुत्व' की नयी प्रयोगशालाएँ 42

रिलायंस द्वारा आन्ध्र प्रदेश में पर्यावरण की घातक तबाही 44

समाज

सूचना प्रौद्योगिकी सेक्टर में रोज़गार के लिए अवसर : किसके लिए? 17

बाढ़ : प्राकृतिक या पूँजीवादी 24

प्रेम, परम्परा और विद्रोह (दूसरी किश्त) 27

विश्व पटल पर

अमेरिका के जनतन्त्र-प्रेम की हक़ीक़त 26

अमेरिकी सबप्राइम संकट : गहराते साम्राज्यवादी संकट की नयी अभिव्यक्ति 35

विशेष लेख

हिन्दी साहित्य में कहाँ है आज के मज़दूरों का जीवन? 18

स्मृति-शेष

त्रिलोचन सदा हमारे बीच रहेंगे। 33

गतिविधि बुलेटिन

स्मृति संकल्प यात्रा के तहत देश के अलग-अलग हिस्सों में कार्यक्रम 40-41, 43

सकर्मक विमर्श 61-64

संघ परिवार शाखाओं में बूढ़ों के बचे रह जाने पर चिन्तित! • मीडिया ने फुलाया नौकरियाँ बढ़ने का गुब्बारा • कैसी खुशियाँ आज़ादी का कैसा शोर, राज कर रहे कफ़नखसोट-मुर्दाखोर

साहित्य

पाकिस्तानी शायर अफ़ज़ाल अहमद की कविताएँ 51

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

वर्ष 1 अंक 2

जनवरी-मार्च 2008

सम्पादक

कविता/अभिनव

सज्जा

रामबाबू

एक प्रति का मूल्य

दस रुपये

यह विशेष अंक : पन्द्रह रुपये

वार्षिक सदस्यता

चालीस रुपये

(डाक व्यय सहित 50 रुपये)

संस्थाओं के लिए : 100 रुपये

आजीवन सदस्यता : 2000 रुपये

सम्पादकीय कार्यालय : बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फोन : (011) 65976788, ईमेल : ahwan.editor@gmail.com

स्वत्वाधिकारी अभिनव सिन्हा द्वारा बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, शाहदरा, दिल्ली से मुद्रित।

उपन्यास-परिचय देना फिर से शुरू करें

'आह्वान' मिल रहा है। इसकी सामग्री प्रशंसनीय है। मेरा सुझाव यह है कि इसमें उपन्यास परिचय का जो स्तम्भ था उसे फिर से शुरू किया जाना चाहिए। इसे बन्द ही क्यों किया? आगे अपनी विस्तृत प्रतिक्रिया भेजने का प्रयास करूँगा।

—कपिलेश भोज, सोमेश्वर
(उत्तरांचल)

'आह्वान' मुझे बहुत ही पसन्द है। मगर बहुत कम शिक्षित होने के कारण बहुत कुछ समझने में मुझे कठिनाई होती है। 2002 का एक अंक मैंने पढ़ा था। उसमें पावेल कोर्चागिन की जीवनी पढ़ी। वह लेखक सचमुच बहुत महान था जिसने इतना सबकुछ सहने के बावजूद अपने अन्तिम समय तक संघर्ष किया। वह कितना मेहनती, साहसी इंसान था। क्या आज के समाज में इतना मेहनती इंसान होगा? अगर कोई पावेल के समान अपने समय का उपयोग करता है, क्रान्तिकारी विचारों के साथ अपने जीवन के हर पल में संघर्ष करते हुए जीता है, तो मैं उससे मिलना चाहूँगी और खुद भी पावेल जैसा बनना चाहूँगी।

—रंजना ज्योति, सोनिया विहार
दिल्ली

छात्र-युवा आन्दोलन का उद्घोषक है आह्वान

साथी सम्पादक,

'आह्वान' का जनवरी-मार्च, 2007 का अंक मिला और पढ़ा भी। यह एक बेहतरीन पत्रिका है। यह एक नये छात्र-युवा आन्दोलन के लिए बहुत ही सहायक है। मुझे आह्वान के सभी लेख ही अच्छे लगे। विशेषकर, इसका सम्पादकीय छात्र-युवा आन्दोलन को नयी दिशा देने का काम करता है। 'आह्वान' पत्रिका को पढ़कर ऐसा लगता है मानो यह एक आह्वान कर रहा है—उठो नौजवानो! किस सोच में डूबे हो? भविष्य तुम्हारा आह्वान कर रहा है। पंख फलाकर दूर आसमान में उड़ चलो! आज समय यही कह रहा है और शहीदों की आत्माएँ पुकार रही हैं! शहीदों के सपनों को साकार करने के लिए एक नया समाज बनाने के लिए नौजवानों को आगे आना ही होगा। यही आह्वान का निर्भीक उद्घोष है।

आज ऊपरी तौर पर देखने पर ऐसा लगता है कि सबकुछ शान्त है। कहीं कोई आन्दोलन नहीं है। कैम्पसों में चुप्पी छाई हुई है। लेकिन अन्दरूनी हक़ीक़त कुछ और है। युवाओं के दिल में गुस्सा है। बस इस गुस्से को सही दिशा देने की ज़रूरत है। उन्हें क्रान्तिकारी विचारधारा से परिचित कराने की ज़रूरत है। तभी सही मायने में भगतसिंह के सपनों को साकार करने की दिशा में हम आगे बढ़ सकेंगे। और यही काम 'आह्वान' कर रहा है।

अभिवादन सहित,
—रवि शर्मा, जयपुर
(राजस्थान)

आह्वान देश के हर युवा तक पहुँचना ज़रूरी...

आह्वान पत्रिका प्राप्त हुई। यह बेहद ज़रूरी पत्रिका है। पूरे देश स्तर पर ही नहीं पूरे दुनिया भर में जिस तरीके से भूमण्डलीकरण उदारीकरण का दौर चल रहा है, इसे एक तरह से साम्राज्यवाद का दूसरा चेहरा कहा जा सकता है। इसको नंगा करने का काम आह्वान कर रही है।

हमारे यहाँ ग्वालियर में एक दौर में तमाम वामपंथी संगठन काम करते थे जो मज़दूर आन्दोलन में सक्रिय थे। लेकिन बिड़ला कॉटन मिल बन्द होने के बाद से आन्दोलन बिखरना शुरू हो गया। जब आन्दोलन तेज़ था उस समय तमाम छात्र-युवा संगठन भी छात्र-युवा आन्दोलन को सक्रियता के साथ चला रहे थे। लेकिन मज़दूर आन्दोलन के बिखराव के साथ ही छात्र-युवा आन्दोलन भी बिखराव का शिकार हो गया। यही आज पूरे देश की कहानी है। ऐसे दौर में 'आह्वान' छात्रों-युवाओं में नये सिरे से मानवता के मूल्यों को पैदा कर रहा है और एक बार फिर आन्दोलन को खड़ा करने के लिए विचारों का प्रचार-प्रसार कर रहा है। इस रूप में 'आह्वान' आज देश के हरेक युवा तक पहुँचना ज़रूरी है और इस रूप में यह एक बेहद ज़रूरी पत्रिका है।

—पवन करण, ग्वालियर
(मध्य प्रदेश)

आह्वान शिक्षित करता है

साथियों को क्रान्तिकारी अभिवादन,
अभिनव जी,

मैं आह्वान का पिछले 3 वर्षों से पाठक हूँ। आज पहली बार अपना कोई पत्र भेज रहा हूँ। कूरियर के माध्यम से इसके पहले भी एक पत्र और कुछ कविताएँ मैं पाठक मंच के लिए भेज चुका हूँ। लेकिन कूरियर सर्विस की दिक्कत की वजह से वह आप तक नहीं पहुँच सका। 'आह्वान' की सामग्री एक उद्वेलन पैदा करती है और साथ में शिक्षित भी करती है। उम्मीद है 'आह्वान' अपनी यह भूमिका निभाता रहेगा।

—अमित संजीदा, अम्बाला कैण्ट.
(हरियाणा)

(पेज 50 पर जारी)

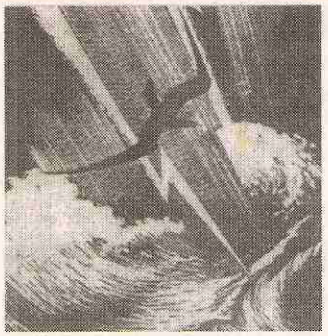

छात्र-युवा आन्दोलन : अप्रोच और दृष्टिकोण के बारे में कुछ और स्पष्टीकरण

आधुनिक युग के इतिहास के किसी भी दौर में, किसी भी देश में क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन में छात्रों-युवाओं की अहम भूमिका रही है। लेकिन इस तथ्य को स्वीकारते हुए, छात्रों-युवाओं की आबादी के प्रति एक ग़ैरवर्गीय नज़रिया अपनाना या केवल मध्यवर्गीय युवा आबादी की भूमिका पर बल देना ग़लत और नुकसानदेह होता है।

वर्गों में बँटे हुए समाज में केवल वर्ग संघर्ष ही इतिहास-विकास की कुँजीभूत कड़ी हो सकता है। केवल शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध वाले वर्गों के आपसी संघर्ष से ही इतिहास आगे की ओर गतिमान होता है। पूँजीवादी समाज में, छोटे-मँझोले किसान और शहरी-ग्रामीण मध्यवर्ग के निचले-मँझोले संस्तर भी पूँजीपतियों और उनके सहयोगी शोषक वर्गों के शोषण के शिकार होते हैं। लेकिन पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष की अगुवाई सर्वहारा वर्ग ही कर सकता है, क्योंकि यही वह वर्ग है जो हर प्रकार के निजी स्वामित्व से वंचित होता है और जीवित रहने के लिए बाज़ार में अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए मजबूर होता है। निजी सम्पत्ति का उन्नततम रूप बुर्जुआ निजी सम्पत्ति है, जिसका विपरीत ध्रुव सर्वहारा वर्ग है जो समस्त सामाजिक सम्पदा का सर्जक है लेकिन जिसके पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा कुछ भी नहीं होता। पूँजीवादी समाज का बुनियादी अन्तरविरोध यह है कि उत्पादन की अतिउन्नत प्रक्रिया सामाजिक होती है (ज़्यादा से ज़्यादा लोग उन्नत मशीनों पर एकसाथ परस्पर तालमेल करके उत्पादन करते हैं और यह समाजीकरण लगातार बढ़ता जाता है), जबकि 'एप्रोप्रियेशन' और संचय की प्रक्रिया निजी प्रकृति की होती है। थोड़े-से परजीवियों के हाथों में केन्द्रित पूँजी दुनियाभर के विशाल कारख़ानों और फ़ार्मों में कार्यरत विराट उत्पादक शक्तियों को नियन्त्रित करती है। पूँजी के संकेन्द्रण की आम प्रवृत्ति ही पूँजीपतियों के बीच देशों के भीतर, और पूरी दुनिया के पैमाने पर गलाकाटू होड़ और इजारेदारी या एकाधिकार की प्रवृत्ति को जन्म देती है। सामाजिक धरातल पर पूँजीपति वर्ग निजी 'एप्रोप्रियेशन' (यानी हस्तगतकरण) और संचय का प्रतिनिधित्व करता है और सर्वहारा वर्ग निजी 'एप्रोप्रियेशन' को समाप्त करके, उसे समाजीकृत करके यानी उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को समाप्त करके, पूँजीवाद को उखाड़ फेंकता है और वर्गविहीन समाज की दिशा में संक्रमण की शुरुआत करता है जिसे समाजवादी संक्रमण की अवधि कहा जाता है। सर्वहारा क्रान्ति के कुछ शुरुआती प्रयोग भले ही विफल हों, लेकिन अन्ततोगत्वा यही होना है, क्योंकि समाज-विकास के नियम यही बताते हैं।

भारत भी एक पूँजीवादी देश है। यहाँ सामन्ती अवशेष अभी भी मौजूद हैं, लेकिन तमाम पिछड़ेपन के बावजूद यह एक पूँजीवादी समाज है जहाँ मज़दूर वर्ग न केवल क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति है, बल्कि गाँवों और शहरों के मज़दूरों की कुल आबादी पचास करोड़ से भी अधिक होने के चलते यही नयी समाजवादी क्रान्ति की प्रमुख ताक़त भी है। गाँवों-शहरों के अर्द्ध-सर्वहाराओं और ग़रीब किसानों को जोड़ देने पर यह आबादी 65-70 करोड़ के आसपास पहुँच जायेगी। निम्न-मध्यवर्ग और निम्न-मध्यम

किसान भी पूँजीवाद के हाथों अपनी तबाही के कारण क्रान्ति के निकट सहयोगी वर्ग हैं। छात्रों और नौजवानों की भारी आबादी भी इन्हीं वर्गों से आती है और अपनी वर्ग-प्रकृति के कारण ही क्रान्तिकारी संघर्ष में अहम भूमिका निभाने की सम्भावना से लैस है।

जब हम क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन की बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य आम जनता के विभिन्न वर्गों से आने छात्रों-युवाओं से ही होता है। लेकिन यदि महानगरों के कॉलेजों-विश्वविद्यालयों के कैम्पसों की बात करें तो वहाँ एकदम ग़रीब घरों के छात्र कम ही पहुँच पाते हैं। वहाँ आधी के आसपास आबादी या तो पूँजीपतियों, व्यापारियों, अफ़सरों, धनी किसानों जैसे परजीवी वर्गों के घरों से और गाँव-शहर के उन मध्यवर्गीय घरों से आती है जो इस व्यवस्था से अभी उम्मीद पाले हुए हैं और ज़िन्दगी की परेशानियों को झेलते हुए भी, क्रान्तिकारी पक्ष चुनने के बजाय बीच में लटके हुए हैं। क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन की केन्द्रीय और अगुवा ताक़त आम मेहनतकश घरों और निम्न-मध्यवर्गीय घरों से आने वाले वे छात्र ही हो सकते हैं जो पूँजीवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के लिए तैयार हों और वैचारिक स्तर पर जागरूक हों। जो छात्र मध्यवर्ग और मध्यम किसानों के बीच के संस्तरों से आते हैं, उन्हें प्रचार और शिक्षा के द्वारा क्रान्तिकारी पक्ष में लाना क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन का एक अहम कार्यभार है।

ग़रीब घरों के जो नौजवान कॉलेजों-विश्वविद्यालयों के कैम्पसों तक नहीं पहुँच पाते, उन्हें उनकी ज़िन्दगी ही यह सबक़ सिखला देती है कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में शिक्षा और रोज़गार का विशेषाधिकार ज़्यादातर मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर पैदा हुए लोगों के लिए ही सुरक्षित है। ख़ासकर, उदारीकरण-निजीकरण के दौर में, शिक्षा ज़्यादा से ज़्यादा धनी लोगों द्वारा ख़रीदी जा सकने वाली और पूँजीपतियों द्वारा बेची जाने वाली चीज़ बनती जा रही है।

ग़रीब घरों के जो नौजवान कॉलेजों-विश्वविद्यालयों के कैम्पसों तक नहीं पहुँच पाते, उन्हें उनकी ज़िन्दगी ही यह सबक़ सिखला देती है कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में शिक्षा और रोज़गार का विशेषाधिकार ज़्यादातर मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर पैदा हुए लोगों के लिए ही सुरक्षित है। ख़ासकर, उदारीकरण- निजीकरण के दौर में, शिक्षा ज़्यादा से ज़्यादा धनी लोगों द्वारा ख़रीदी जा सकने वाली और पूँजीपतियों द्वारा बेची जाने वाली चीज़ बनती जा रही है। आम घरों के लड़के छोटे शहरों-क़स्बों के कॉलेजों से जो डिग्रियाँ हासिल करते हैं, वे नौकरी दिलाने की दृष्टि से एकदम बेकार होती हैं और शिक्षा की गुणवत्ता की दृष्टि से भी उनका कोई मोल नहीं होता। वर्गीय अन्तर्वस्तु की दृष्टि से छोटे शहरों-क़स्बों के इन छात्रों के रैडिकल व्यवस्था-विरोधी छात्र संगठन बनाने की सम्भावना अधिक है, हालाँकि चेतना के सापेक्षिक पिछड़ेपन के चलते उनके बीच अधिक व्यापक, सघन और लम्बे क्रान्तिकारी प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई आवश्यक होगी। बड़े महानगरों के उन्नत शिक्षा संस्थानों में उच्च-मध्यवर्ग के छात्रों की बहुतायत होने के कारण वहाँ क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन का आधार उतना व्यापक नहीं होगा, लेकिन वहाँ से उन्नत चेतना वाले क्रान्तिकारी तत्त्वों की भरती की सम्भावना अधिक होगी।

निम्न-मध्यवर्ग के जो युवा या तो उच्च शिक्षा के दायरे में घुस ही नहीं पा रहे हैं, या कैम्पसों से बाहर धकेले जा रहे हैं, या बस नाम की डिग्री भर हासिल कर पा रहे हैं, वे लम्बी बेरोज़गारी झेलने या अर्द्ध-बेरोज़गार के रूप में कोई पार्टटाइम नौकरी करने, ट्यूटर या सेल्समैन का काम करने या दिहाड़ी मज़दूरों की क़तारों में शामिल होने के लिए बाध्य हैं, वे क्रान्तिकारी नौजवान आन्दोलन की मुख्य ताक़त बनेंगे। शिक्षा और रोज़गार की लड़ाई लड़ते हुए वे मज़दूर आन्दोलन के साथ नज़दीकी से जुड़ेंगे और फिर पूँजीवाद के विरुद्ध साझा लड़ाइयों में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ेंगे।

लेकिन युवा आन्दोलन को यदि हम साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्तिकारी संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो हमें इसे वर्गीय नज़रिये से देखना होगा और सबसे पहले हमारा ध्यान मज़दूरों की युवा पीढ़ी पर – यानी युवा मज़दूरों और मज़दूरों के युवा बेटों पर होना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने अपने प्रारम्भिक लेखन (1844) में ऐसे युवाओं के लिए "मज़दूर वर्ग की उदीयमान पीढ़ी" संज्ञा का प्रयोग किया (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 2, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1975, पृ. 168-69)। आगे चलकर उन्होंने लिखा : "मज़दूर वर्ग का अधिक प्रबुद्ध हिस्सा पूरी तरह से समझता है कि इसके वर्ग का, और इसलिए सम्पूर्ण मानवजाति का भविष्य मज़दूरों की उदीयमान पीढ़ी के निर्माण पर निर्भर करता है" (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 3, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1975, पृ. 197)। लेनिन ने भी छात्र-युवा आन्दोलन के प्रति हमेशा ही वर्गीय दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया और पूँजीवादी और निम्न-पूँजीवादी राजनीतिज्ञों द्वारा नौजवानों के बीच के सामाजिक वर्गीय भेद को छुपाने तथा वर्ग-संघर्ष में सर्वहारा वर्ग के साथ मिलकर भाग लेने से उन्हें अलग करने की हर कोशिश का विरोध किया। युवा आन्दोलन के क्रान्तिकारी चरित्र का पैमाना युवाओं की आयु-विशेषता के बजाय उन्होंने वर्ग-चरित्र को माना, यानी इस बात को माना कि युवा आन्दोलन की मुख्य शक्ति मज़दूर, अन्य मेहनतकश वर्गों और पूँजीवाद के हाथों तबाह हो रही मध्यवर्गीय जमातों के युवा हैं या नहीं, और यह कि, युवा आन्दोलन मज़दूरों और अन्य मेहनतकशों के क्रान्तिकारी संघर्ष

के साथ जुड़ा हुआ है या नहीं। नदेज़्दा क्रुप्सकाया ने 'लेनिन अबाउट यूथ' शीर्षक लेख में लिखा है : "क्रान्तिकारी युवा आन्दोलन के प्रति सामान्यत: ध्यान देते हुए व्लादीमिर इल्यीच ने मज़दूर युवाओं के क्रान्तिकारी आन्दोलन को अत्यधिक महत्त्व दिया, जिनमें जोश के साथ वर्गीय अन्त:प्रवृत्ति भी होती है, और जब वे मज़दूर वर्ग के संघर्ष में शामिल होते हैं, तो वे अपने खुद के हित के लिए लड़ते हैं और उस संघर्ष में बढ़ते एवं मज़बूत होते हैं।"

मज़दूर वर्ग के नौजवानों के अतिरिक्त लेनिन ने क्रान्तिपूर्व रूसी समाज में गाँवों में पूँजीवादी विकास की लहर के साथ ही विकसित हो रहे एक नये प्रकार की क्रान्तिकारी सम्भावना से लैस उस नौजवान किसान के महत्त्व को विशेष रूप से रेखांकित किया, जो शहरों में क्रान्तिकारी आन्दोलन में लगे व्यक्तियों से मिलता था, अख़बार पढ़ता था, अपने गाँव में आन्दोलनात्मक काम करता था तथा बड़े ज़मींदारों, पादरियों और ज़ारशाही के अफ़सरों के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान करने वाले बोल्शेविक नारों की व्याख्या करता था। लेनिन का मानना था कि ऐसे चेतनशील ग्रामीण युवाओं की गतिविधियाँ व्यापक आम मेहनतकश किसान आबादी को क्रान्तिकारी आन्दोलन के दायरे में धीरे-धीरे खींच लाने में मदद करती हैं (देखें, लेनिन : 'लेक्चर ऑन द 1905 रिवोल्यूशन', कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 23, पृ. 243)।

इस आम पहुँच की रोशनी में आज के भारतीय समाज का अध्ययन हमें कुछ ज़रूरी नतीजों तक पहुँचाता है। यूँ तो भारतीय समाज के पूँजीवादी रूपान्तरण के साथ ही गाँवों के छोटे-मँझोले किसानों की तबाही एवं सर्वहाराकरण और शहरों की ओर उनके प्रस्थान का सिलसिला पिछले लगभग चार दशकों से जारी है, लेकिन विशेषकर 1990 के बाद से इस प्रक्रिया में काफ़ी तेज़ी आयी है। आप देश के किसी भी औद्योगिक क्षेत्र में जाइये, मज़दूरों की झुग्गी-बस्तियों में आपको अठारह से पैंतीस वर्ष के बीच की उम्र वाले युवा मज़दूरों की ही बहुतायत देखने को मिलेगी। यह नौजवान आबादी ज़्यादातर दिहाड़ी और ठेका मज़दूर के रूप में कारख़ानों में दस घण्टे से चौदह घण्टों तक हड्डियाँ गलाती है और चालीस से सत्तर रुपये के बीच दिहाड़ी पाती है। सीलनभरी अँधेरी कोठरियों में एक साथ कई मज़दूर रहते हैं, या एक मज़दूर परिवार सहित रहता है। इन बस्तियों में सार्वजनिक सुविधाएँ या तो हैं ही नहीं या बस नाममात्र को हैं। ज़्यादातर यूनियनें नियमित नौकरीशुदा, बेहतर वेतन और सुविधाओं वाली संगठित मज़दूर आबादी तक ही सीमित हैं। भारी असंगठित मज़दूर आबादी या तो यूनियन के दायरे के बाहर है या फिर कुछ धन्धेबाज़ छुटभैये यहाँ-वहाँ यूनियन ऑफ़िस खोलकर उनके बीच दलाली का काम करते रहते हैं। इन युवा मज़दूरों में एकदम निरक्षर कम ही मिलेंगे। ज़्यादातर मिडिल या हाईस्कूल पास हैं और कुछ तो ग्रेजुएट भी हैं। एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि इन युवा मज़दूरों में स्त्रियों की संख्या भी अच्छी-ख़ासी है और लगातार बढ़ती जा रही है। ये युवा स्त्री मज़दूर सबसे कठिन और उबाऊ क़िस्म के काम सबसे कठिन स्थितियों में करती हैं। काम के घण्टों के हिसाब से मज़दूरी उन्हें पुरुष मज़दूरों से कम मिलती है और आर्थिक शोषण के साथ ही प्राय: उन्हें यौन-उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ता है। कारख़ानों में स्त्री मज़दूरों के लिए अलग शौचालय तक की समस्या है। मज़दूर बस्तियों में भी यह सुविधा बस नाममात्र को ही है। मज़दूर स्त्रियों के बच्चों के लिए किसी भी कारख़ाने में बच्चाघर नहीं होता। दवा-इलाज के लिए असंगठित मज़दूरों की यह पूरी आबादी नीम-हकीमों के आसरे होती है।

ये करोड़ों युवा सर्वहारा स्त्री-पुरुष भारत के नये सिरे से संगठित होने वाले क्रान्तिकारी आन्दोलन की सबसे अग्रणी और सबसे सम्भावनासम्पन्न शक्ति हैं। समृद्धि और विलासिता की मीनारों की अँधेरी तलहटी में आधुनिक युग के गुलामों का जीवन बिताने वाले ये लोग पूँजीवादी समाज की तमाम विभीषिकाओं को भोग रहे हैं और पूँजीवादी समाज के प्रति उनके भीतर न तो कोई उम्मीद बची है, न ही कोई मोह। साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्ति की हरावल शक्तियों को नये सिरे से संगठित करने की प्रक्रिया शुरू करते हुए सबसे पहले इन पर ध्यान देना होगा, इनके बीच क्रान्तिकारी शिक्षा और प्रचार की कार्रवाइयाँ गहराई से, विविध रूपों में और लगातार चलानी होंगी तथा इन्हें संगठित करना होगा। इस युवा स्त्री-पुरुष मज़दूर आबादी में जातिगत पूर्वाग्रह की समस्या भी अपेक्षाकृत सबसे कम है जो भारतीय समाज की एक गम्भीर पुरानी बीमारी और वर्ग संघर्ष के विकास के रास्ते की एक गम्भीर बाधा है। सतत क्रान्तिकारी प्रचार और आन्दोलनों की प्रक्रिया इनकी वर्गीय चेतना को प्रखर बनायेगी और इनके बीच की जातिगत दूरियों को मिटाने का काम करेगी। लेनिन ने मज़दूर युवाओं की क्रान्तिकारी गतिविधियों को समूचे सर्वहारा आन्दोलन का एक अविभाज्य अंग मानते हुए क्रान्तिकारी पार्टी में ऐसे युवा सर्वहारा तत्त्वों की भरती पर विशेष ज़ोर दिया था और कहा था कि क्रान्तिकारी पार्टी "अग्रणी वर्ग के युवाओं की पार्टी" होगी (लेनिन : 'द क्राइसिस ऑफ़ मेन्शेविज़्म', कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 2, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, पृ. 355)। भारत के करोड़ों क्रान्तिकारी सम्भावनासम्पन्न नौजवान मज़दूरों की लगातार बढ़ती आबादी के बारे में भी यही दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। युवा सर्वहाराओं की यह आबादी ट्रेड यूनियन आन्दोलन को महज़ रियायतें माँगने और पैबन्दसाज़ी करने वाली अर्थवादी राजनीति की गन्दगी से बाहर लाकर उसे क्रान्तिकारी आधार पर फिर से खड़ा करने में ऐतिहासिक भूमिका निभायेगी। इसके लिए इनके बीच क्रान्तिकारी शिक्षा और प्रचार की घनीभूत कार्रवाई चलानी होगी, इनके राजनीतिक अध्ययन-मण्डल बनाने होंगे, इनके बीच मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी राजनीतिक अख़बार को लेकर जाना होगा और इन्हें इस बात की शिक्षा देनी होगी

कि मज़दूर क्रान्ति के द्वारा पूँजीवाद का नाश आज भी मज़दूर वर्ग का ऐतिहासिक मिशन है। विगत सर्वहारा क्रान्तियों की पराजय सर्वहारा वर्ग की अन्तिम और निर्णायक पराजय नहीं बल्कि महज़ फ़ौरी हार थी। सर्वहारा क्रान्तियों का अगला चक्र अवश्यम्भावी है और उसे विजयी होना ही है। इसके साथ ही, युवा मज़दूरों और मज़दूरों के युवा बेटों को नौजवान आन्दोलन के बैनर तले भी संगठित करना होगा। नौजवान संगठनों में संगठित युवा सर्वहारा पुस्तकालयों, रात्रि पाठशालाओं आदि के ज़रिये शिक्षित होंगे, खेलकूद क्लब, सांस्कृतिक टीम आदि बनाकर एकजुट होने, सामूहिकता-बोध और सांस्कृतिक-राजनीतिक चेतना से लैस होने तथा प्रचार कार्यों में प्रभावी बनने का काम करेंगे, ठेका प्रथा की समाप्ति, काम के घण्टे कम करने, और अपनी बस्ती की समस्याओं को लेकर लड़ते हुए वे आर्थिक माँगों के साथ-साथ आवास, रोज़गार, स्वास्थ्य और शिक्षा आदि अहम राजनीतिक माँगों पर लड़ना सीखेंगे और मज़दूर आन्दोलन में नया प्राण-संचार करेंगे। तात्पर्य यह कि नौजवान आन्दोलन की बात करते हुए हमें न केवल नौजवान मज़दूरों की अनदेखी नहीं करनी चाहिए बल्कि सबसे पहले उन्हीं पर ध्यान देना चाहिए और मज़दूर बस्तियों में क्रान्तिकारी नौजवान संगठन की इकाइयाँ संगठित करने पर विशेष बल देना चाहिए।

युवा सर्वहाराओं की यह आबादी ट्रेड यूनियन आन्दोलन को महज़ रियायतें माँगने और पैबन्दसाज़ी करने वाली अर्थवादी राजनीति की गन्दगी से बाहर लाकर उसे क्रान्तिकारी आधार पर फिर से खड़ा करने में ऐतिहासिक भूमिका निभायेगी। इसके लिए इनके बीच क्रान्तिकारी शिक्षा और प्रचार की घनीभूत कार्रवाई चलानी होगी, इनके राजनीतिक अध्ययन-मण्डल बनाने होंगे, इनके बीच मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी राजनीतिक अख़बार को लेकर जाना होगा और इन्हें इस बात की शिक्षा देनी होगी कि मज़दूर क्रान्ति के द्वारा पूँजीवाद का नाश आज भी मज़दूर वर्ग का ऐतिहासिक मिशन है।

गाँव के युवा मज़दूरों पर भी इसी प्रकार का ध्यान देना चाहिए। उनकी भी तादाद आज कम नहीं है। हाँ, यह ज़रूर है कि शहरी युवा मज़दूरों की तुलना में उनकी चेतना पिछड़ी हुई है और जात-पाँत की बाधा भी गाँवों में अधिक गम्भीर है। इसलिए गाँवों में नौजवानों को संगठित करते हुए उनकी राजनीतिक शिक्षा और उनके बीच सांस्कृतिक काम पर शहरों की अपेक्षा कई गुना अधिक ज़ोर देना होगा। छोटे और मँझोले किसान परिवारों की जो युवा पीढ़ी है, उसे छोटे पैमाने के मालिकाने के मोह से उबारना अधिक आसान है। उन्हें आसानी से यह बतलाया जा सकता है कि पूँजी की मार से छोटे और निम्न-मध्यम किसानों को तबाह होने से बचाना सम्भव नहीं है और यह कि लागत मूल्य और लाभकारी मूल्य की लड़ाइयों का वास्तविक लाभ केवल धनी किसानों को ही मिलता है। छोटे और मँझोले किसानों के सामने एकमात्र व्यावहारिक मार्ग यही है कि वे सर्वहारा के साथ मिलकर समाजवाद के लिए संघर्ष करें जिसमें समान शिक्षा और रोज़गार का सबको अधिकार होगा, काम करने वाले सभी हाथों को काम और उनके काम का समान मोल मिलेगा तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में ज़मीन पर सबका समान अधिकार होगा। छोटे-मँझोले किसानों की युवा पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के मुक़ाबले जातिगत पूर्वाग्रहों से भी आसानी से मुक्त हो सकेगी और बड़े किसानों की धौंसपट्टी के आगे उसका डरना-झुकना भी मुश्किल होगा। इसलिए, गाँवों में नौजवान संगठन बनाते समय युवा ग्रामीण मज़दूरों के अतिरिक्त छोटे-मँझोले किसानों की युवा पीढ़ी को संगठित करने पर ध्यान देना होगा। गाँव के नौजवान संगठनों को धनी किसानों की नौजवान पीढ़ी के प्रभाव से विशेष तौर पर बचाना होगा।

नौजवान लोग, अपनी उम्र के तकाज़े से, जोशीले और ऊर्जस्वी होते हैं। उनकी चेतना पर वर्गीय संकीर्णता की जकड़बन्दी अपेक्षाकृत कम होती है, इसलिए तीव्र वर्ग-संघर्षों की पूर्वबेला में, कभी-कभी धनी और शोषक वर्गों के कुछ युवा भी अपनी वर्ग सीमाओं का अतिक्रमण करके व्यापक मेहनतकश जनता के हित में सक्रिय हो जाते हैं। एंगेल्स ने भी पूर्वानुमान किया था कि विशेष स्थितियों में, यहाँ तक कि बुर्जुआ वर्ग भी "आन्दोलन में अत्यन्त उपयोगी युवाओं" को पैदा करेगा (एंगेल्स : 'द लेट बुचरी एट लीप्ज़िग – द जर्मन वर्किंगमेन्स मूवमेण्ट,' कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 4, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1975, पृ. 647)। लेकिन इसका मतलब यह कदापि नहीं कि हम छात्र-युवा आन्दोलन को वर्गोपरि या वर्गेतर मान बैठें अथवा धनी घरों के छात्रों-युवाओं की बड़ी संख्या से क्रान्तिकारी भूमिका की उम्मीद पाल बैठें। बुर्जुआओं, नौकरशाहों और उच्च-मध्यवर्ग के जो नौजवान क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन में सक्रिय होंगे, वे सामाजिक-ध्रुवीकरण और आन्दोलन की तीव्रता बढ़ने के साथ ही या तो स्वयं किनारे लग जायेंगे या आन्दोलन को लक्ष्यविमुख करने की कोशिशों में लग जायेंगे। इनमें से बहुत छोटी, अपवादस्वरूप संख्या ही उन लोगों की होगी जो अपनी वर्गीय सीमाओं से पूरी तरह मुक्त होकर स्वयं को मेहनतकश जनता से जोड़ सकेंगे।

जहाँ तक बीच में खड़े मध्यवर्ग (यानी निम्न-पूँजीपति वर्ग) के छात्रों- नौजवानों का प्रश्न है, उनकी भूमिका क्रान्तिकारी आन्दोलनों में मिली-जुली होती है। एंगेल्स ने यह विश्वास प्रकट किया था कि मध्यवर्गीय सामाजिक संस्तरों से आने वाले छात्रों के बीच से बौद्धिक श्रम के सर्वहारा का उदय होगा जो

आने वाली क्रान्ति में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए शारीरिक श्रम से सम्बद्ध अपने मज़दूर भाइयों के साथ एक ही क़तार में कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ा होगा। लेकिन साथ ही, वे निम्न-पूँजीपति वर्ग के युवाओं की दोनों ओर देखने की प्रवृत्ति, मज़दूरों को अपने से हीन मानने और स्वयं को उनका उद्धारक मानने की प्रवृत्ति, मज़दूरों की क्रान्तिकारी क्षमता में विश्वास न करने की प्रवृत्ति तथा अराजकतावाद, कैरियरवाद, व्यक्तिवाद और आनन-फ़ानन में क्रान्ति कर डालने की प्रवृत्ति से पैदा होने वाले दुस्साहसवादी भटकाव से भी भलीभाँति वाक़िफ थे। निम्न पूँजीपति वर्ग के अग्रणी युवाओं को पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में जब अपना कोई भविष्य नज़र आता तो उनके भीतर अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की भावना उमड़ने-घुमड़ने लगती है और वे क्रान्तिकारी आन्दोलनों में व्यापक मेहनतकश जनता के साथ शिरक़त करने लगते हैं। लेकिन मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के अन्तर की बुनियाद पर क़ायम अपने बुर्जुआ विशेषाधिकारों और श्रेष्ठता की भावना को उस समय भी वे दिल से छोड़ने को तैयार नहीं होते। समाजवाद का हामी होते हुए भी वे मज़दूरों के प्रति तिरस्कार-भाव रखते हैं और अपनी बुर्जुआ पढ़ाई-लिखाई पर मिथ्याभिमान करते हैं। उनकी आँखों पर पड़ा वर्गीय सीमाओं (जिसका मुख्य कारण उत्पादक श्रम से उनका कटाव होता है) का परदा मेहनतकशों की क्रान्तिकारी सम्भावना से उन्हें परिचित नहीं होने देता। वे समझते हैं कि मज़दूर आन्दोलन उनके नेतृत्व के बिना सफल हो ही नहीं सकता और मज़दूरों की क्रान्तिकारी पार्टी में प्रायः वे नये 'विचारक' और 'नेता' होने के मंसूबे और दावे के साथ प्रवेश करते हैं। फ्रेडरिक एंगेल्स ने पॉल लफ़ार्ग को लिखे गये एक पत्र में लिखा था कि ऐसे छात्र या शिक्षित मध्यवर्गीय युवा बुर्जुआ विश्वविद्यालय को एक प्रकार का समाजवादी सेण्ट साईर विद्यालय मानते हैं जो उन्हें पार्टी में, यदि सेनापति का नहीं तो कम से कम एक अफ़सर के रूप में पद पाने का अधिकार प्रदान करता है। माओ त्से-तुङ ने न केवल क्रान्ति के पहले, बल्कि क्रान्ति के बाद भी लम्बे समय तक सर्वहारा वर्ग की पार्टी में व्यक्तिवाद, कैरियरवाद, अराजकतावाद और 'नेता बनने के लिए पार्टी में भरती होने की प्रवृत्ति' जैसे भटकावों के विरुद्ध संघर्ष पर बल दिया था। ये बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ लेकर आने वाले प्रायः निम्न-पूँजीवादी तत्त्व ही हुआ करते हैं जो बुर्जुआ व्यवस्था से लड़ना तो चाहते हैं लेकिन अपनी बुर्जुआ प्रवृत्तियों एवं विशेषाधिकारों को जाने-अनजाने यथावत बनाये रखना चाहते हैं। निम्न-पूँजीवादी युवाओं में चूँकि जनसमुदाय की क्रान्तिकारी शक्ति और भूमिका के प्रति विश्वास नहीं होता, इसलिए प्रायः उनके बीच के उतावले क्रान्तिकारी तत्त्व क्रान्ति के विज्ञान एवं अध्ययन एवं प्रयोग की तथा मेहनतकश जनता को जागृत एवं संगठित करने की दीर्घकालिक कार्रवाई की उपेक्षा करते हैं और अपनी क़ुर्बानी, वीरता एवं हथियारबन्द कार्रवाइयों के आतंक के सहारे सत्ता-परिवर्तन कर देना चाहते हैं। इसे ही हम आम तौर पर दुस्साहसवाद या आतंकवाद की प्रवृत्ति के नाम से जानते हैं। वैज्ञानिक समाजवाद पर आधारित मज़दूर आन्दोलन की धारा के प्रभावी होने के पहले यूरोप में और रूस में निम्न-पूँजीवादी क्रान्तिकारिता की यह प्रवृत्ति आम थी और क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन में भी कभी सुधारवाद-अर्थवाद-संसदवाद के रूप में बुर्जुआ भटकाव, तो कभी आतंकवाद-अराजकतावाद के रूप में निम्न बुर्जुआ भटकाव घुसपैठिये के रूप में लगातार सिर उठाते रहते हैं। इन भटकावों का सामाजिक आधार पूँजीवादी समाज की वर्गीय संरचना में मौजूद है।

तीव्र वर्ग संघर्ष के काल में, परस्पर-विरोधी भूमिकाओं के रूप में छात्र समुदाय की सामाजिक विषमता विशेष रूप से देखने को मिलती है। 1848 की क्रान्ति में जर्मनी में छात्रों के जनवादी तबके ने विद्रोही मेहनतकशों के साथ शामिल होकर सरकारी सेनाओं का मुक़ाबला किया, लेकिन उसी समय फ़्रांस के विशेषाधिकारी अभिजातों के वंशज छात्रों ने मोर्चाबन्दी के दूसरी ओर के बुर्जुआ नेशनल गार्ड का साथ दिया और पेरिस के मज़दूरों पर गोलियाँ चलायीं। कभी-कभी, अपनी अराजक सोच और मेहनतकश अवाम के प्रति क्षीण या प्रच्छन्न तिरस्कार-भाव के बावजूद, छात्र आन्दोलन व्यवस्था के विरुद्ध जनमानस को जागृत करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, लेकिन व्यापक मेहनतकश जनता के संघर्ष से जुड़े बिना, वे अपनी स्वतन्त्र गति से बहुत आगे तक नहीं जा पाते और विघटित हो जाते हैं। 1865-66 की शरद ऋतु में पेरिस एकेडमी के छात्र आन्दोलन के बारे में, मार्क्स को लिखे गये एक पत्र में एंगेल्स ने लिखा था : "यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि पेरिस के छात्र, चाहे उनके मस्तिष्क में जो कुछ भी अव्यवस्था रही हो, मज़दूरों का पक्ष ले रहे हैं।" 1968 के फ़्रांस के छात्र आन्दोलन की काफ़ी चर्चा होती है। इस छात्र आन्दोलन ने लौहपुरुष दगाल की सरकार को इस्तीफ़े के लिए मजबूर कर दिया। तमाम बुद्धिजीवियों को इस आन्दोलन में नयी राह फूटती दीखने लगी। एक नवीन युग के सूत्रपात की घोषणाएँ की जाने लगीं। लेकिन अन्ततोगत्वा सबकुछ विसर्जित हो गया। लगभग एक दशक बाद ही, उस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले लोग बुर्जुआ व्यवस्था में यहाँ-वहाँ उच्च पदों पर व्यवस्थित हो गये या बुर्जुआ बुद्धिजीवी बन गये। फ़्रांसीसी सत्ता और समाज का ढाँचा यथावत बना रहा। यूँ कहने को 1968 के फ़्रांसीसी छात्र आन्दोलन में समाजवाद और साम्राज्यवाद-विरोध के नारों को केन्द्रीय स्थान प्राप्त था। लेनिन और माओ के बिल्ले छात्रों में काफ़ी लोकप्रिय थे। लेकिन समाजवाद के प्रति छात्रों का यह रुझान वैज्ञानिक न होकर रूमानी था। आन्दोलन में कोई योजना नहीं बल्कि एक स्वयंस्फूर्त अराजकता थी और मज़दूर वर्ग को साथ लेने का कोई सचेतन प्रयास था ही नहीं। फ़्रांस में छिटपुट निष्प्रभावी ग्रुपों के अतिरिक्त, सर्वहारा वर्ग की ऐसी कोई क्रान्तिकारी पार्टी भी नहीं थी जो उस छात्र आन्दोलन

पर वैचारिक वर्चस्व स्थापित करने और उसे मज़दूर वर्ग के संघर्षों के साथ जोड़ने की कोशिश करती। इन सबका नतीजा उसी रूप में सामने आना था, जिस रूप में आया। निस्सन्देह, इस छात्र आन्दोलन की वस्तुगत तौर पर प्रगतिशील भूमिका थी। इसने साम्राज्यवादी दुनिया के अन्तरविरोधों को उजागर करने के साथ ही उसे एक झटका दिया और पूरी दुनिया के मेहनतकशों और क्रान्तिकारी नौजवानों पर भी उसका एक सकारात्मक प्रभाव पड़ा। लेकिन दूरगामी तौर पर देखें तो यह बदलाव की किसी नयी लहर का सूत्रधार नहीं बन पाया। इसका मुख्य कारण छात्र आबादी के निम्न-पूँजीवादी चरित्र, उसकी अराजकतावादी विचारधारा और मेहनतकश जनसमुदाय से उसकी दूरी में देखा जा सकता है।

दूसरा प्रतिनिधि उदाहरण 1974 के भारतीय छात्र-युवा आन्दोलन का लिया जा सकता है। इसमें अग्रणी भूमिका गाँवों-शहरों के उन रैडिकल मध्यवर्गीय छात्रों की थी, जिनका आज़ाद भारत के नये सत्ताधारियों की नीतियों से मोहभंग हो चुका था। बढ़ती बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, नेताशाही और नौकरशाही के विरुद्ध छात्रों का स्वत:स्फूर्त विस्फोटक आक्रोश गुजरात, बिहार और फिर देश के अधिकांश हिस्से में सड़कों पर सैलाब के रूप में बह निकला। इस व्यवस्था-विरोधी छात्र आन्दोलन की न तो कोई स्पष्ट विचारधारा थी, न सुलझा हुआ नेतृत्व था, न ही कोई स्पष्ट कार्यक्रम था। उस समय संशोधनवादी संसदमार्गी कम्युनिस्टों से विच्छेद करके जो क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट देश के विभिन्न हिस्सों में काम कर रहे थे और सत्ता के प्रचण्ड दमन के बावजूद जो काफ़ी प्रभावी थे, उन्होंने मुख्यत: आतंकवादी भटकाव के कारण (जो आतंकवादी भटकाव के शिकार नहीं थे, उनके पास भी कोई स्पष्ट वैकल्पिक मार्ग या जनदिशा की समझ नहीं थी) छात्रों-युवाओं के उभार में प्रभावी हस्तक्षेप करने की कोई कोशिश ही नहीं की। अपनी नैसर्गिक अराजकतावादी और स्वत:स्फूर्ततावादी वर्ग-प्रवृत्ति से छात्र आन्दोलन आगे बढ़ता रहा और मौक़ा देखकर जयप्रकाश नारायण ने "सम्पूर्ण क्रान्ति" और "दलविहीन प्रजा" के लोकलुभावन नारे के साथ उसका नेतृत्व हड़प लिया। आपातकाल के दौरान भी निरंकुशता-विरोधी संघर्ष की मुख्य ताक़त छात्र-युवा ही थे। लेकिन इस सारे संघर्ष की परिणति थी 1977 में जनता पार्टी शासन की स्थापना और फिर पतन तथा जनता पार्टी का विघटन। जनता पार्टी के घटक दल बुर्जुआ राजनीति की मुख्य धारा में शामिल हो गये और 1974 के छात्र आन्दोलन के अधिकांश नेता आज विभिन्न बुर्जुआ दलों के शीर्ष नेता हैं। जो बुर्जुआ राजनीति की मुख्य धारा में व्यवस्थित नहीं हो सके वे आज गाँधीवादी संस्थाओं और एन.जी.ओ. राजनीति के मठाधीशों के रूप में पूँजीवादी व्यवस्था के नये सेफ़्टीवॉल्व का काम कर रहे हैं और जो यह भी नहीं कर सके वे सर्वोदय बुक स्टालों पर किताब बेच रहे हैं, गाँधीवादी संस्थाओं के दफ़्तरों में किरानीगीरी कर रहे हैं या हर प्रकार की राजनीतिक सक्रियता से विमुख अवसादग्रस्त मानसिकता में कोई रोज़ी-रोज़गार करके घर-बार सम्भाल रहे हैं। इस सबका निचोड़ एकदम साफ़ है। छात्र आन्दोलन यदि मेहनतकशों के संघर्षों से और उनकी मुक्ति की व्यापक परियोजना से अपने को नहीं जोड़ता है तो अपने तमाम रैडिकल चरित्र के बावजूद, वह अन्तत: विघटित हो जाता है, उसके अग्रणी तत्त्वों का बड़ा हिस्सा बुर्जुआ राजनीति की मुख्य धारा में शामिल हो जाता है और बुर्जुआ व्यवस्था में रच-पच जाता है। बुनियादी और मुख्य चरित्र (कॉलेजों- विश्वविद्यालयों के छात्रों के वर्गीय कम्पोज़ीशन की दृष्टि से) मध्यवर्गीय होने के कारण "स्वतन्त्र" और "स्वायत्त" छात्र आन्दोलनों की नियति और परिणति इससे भिन्न कुछ हो भी नहीं सकती।

कैम्पसों की छात्र आबादी अपनी स्वाभाविक निम्न-पूँजीवादी प्रवृत्ति के चलते, यदि वामपन्थी विचारों के प्रभाव में आती भी है तो संसदमार्गी वामपन्थी पार्टियों का सुधारवाद उन्हें अधिक रास आता है, क्योंकि उसमें कोई जोखिम नहीं होता, अपनी बुर्जुआ योग्यता के बूते तरक़्क़ी की सीढ़ी चढ़ने का स्कोप वहाँ अधिक होता है और व्यापक मेहनतकश आबादी के कठिन जीवन और संघर्षों में भागीदारी की कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ती। जो ज़्यादा रैडिकल रुझान वाले थोड़े-से छात्र होते हैं, वे निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिवाद के शिकार होते हैं। व्यापक मेहनतकश जनता पर उन्हें भरोसा नहीं होता और आनन-फ़ानन में क्रान्ति कर डालने की प्रवृत्ति उन्हें आतंकवाद के रास्ते की ओर ले जाती है। छात्र जीवन में वामपन्थी फ़िकरों-मुहावरों की जुगाली करने वाले बहुतेरे छात्र या तो किसी संसदमार्गी वामपन्थी पार्टी के नेता या एन.जी.ओ. सुधारवाद के सरगनां बन जाते हैं, या नववामपन्थी अकादमीशियन बन जाते हैं, या फिर मीडियाकर्मी और नौकरशाह बन जाते हैं।

और बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है। कैम्पसों की छात्र आबादी अपनी स्वाभाविक निम्न-पूँजीवादी प्रवृत्ति के चलते, यदि वामपन्थी विचारों के प्रभाव में आती भी है तो संसदमार्गी वामपन्थी पार्टियों का सुधारवाद उन्हें अधिक रास आता है, क्योंकि उसमें कोई जोखिम नहीं होता, अपनी बुर्जुआ योग्यता के बूते तरक़्क़ी की सीढ़ी चढ़ने का स्कोप वहाँ अधिक होता है और व्यापक मेहनतकश आबादी के कठिन जीवन और

संघर्षों में भागीदारी की कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ती। जो ज़्यादा रैडिकल रुझान वाले थोड़े-से छात्र होते हैं, वे निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिवाद के शिकार होते हैं। व्यापक मेहनतकश जनता पर उन्हें भरोसा नहीं होता और आनन-फ़ानन में क्रान्ति कर डालने की प्रवृत्ति उन्हें आतंकवाद के रास्ते की ओर ले जाती है। छात्र जीवन में वामपन्थी फ़िकरों-मुहावरों की जुगाली करने वाले बहुतेरे छात्र या तो किसी संसदमार्गी वामपन्थी पार्टी के नेता या एन.जी.ओ. सुधारवाद के सरगना बन जाते हैं, या नववामपन्थी अकादमीशियन बन जाते हैं, या फिर मीडियाकर्मी और नौकरशाह बन जाते हैं। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय जैसे सुविधासम्पन्न टापू की वामपन्थी छात्र राजनीति यदि सभी संशोधनवादी पार्टियों के लिए प्रभावी भरती-केन्द्र का काम करती है और कभी-कभार वहाँ से निकले कुछ छात्र यदि दुस्साहसवादी वाम राजनीति का रास्ता पकड़ते हैं तो इसमें ज़रा भी आश्चर्य की बात नहीं है।

एक सच्ची क्रान्तिकारी छात्र राजनीति का मतलब केवल फ़ीस-बढ़ोत्तरी के विरुद्ध लड़ना, कक्षाओं में सीटें घटाने के विरुद्ध लड़ना, मेस में ख़राब ख़ाने को लेकर लड़ना, छात्रावासों की संख्या बढ़ाने के लिए लड़ना, कैम्पस में जनवादी अधिकारों के लिए लड़ना या यहाँ तक कि रोज़गार के लिए लड़ना मात्र नहीं हो सकता। क्रान्तिकारी छात्र राजनीति वही हो सकती है जो कैम्पसों की बाड़ेबन्दी को तोड़कर छात्रों को व्यापक मेहनतकश जनता के जीवन और संघर्षों से जुड़ने के लिए तैयार करे और उन्हें इसका ठोस कार्यक्रम दे। ऐसा किये बिना मध्यवर्गीय छात्र अपनी वर्गीय दृष्टि-सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते। क्रान्तिकारी परिवर्तन की भावना वाले छात्रों को राजनीतिक शिक्षा और प्रचार के द्वारा यह बताना होगा कि मज़दूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता के संघर्षों में प्रत्यक्ष भागीदारी किये बिना और उसके संघर्षों के साथ अपने संघर्षों को जोड़े बिना वे उस पूँजीवादी व्यवस्था को क़त्तई नष्ट नहीं कर सकते जो सभी समस्याओं की जड़ है। व्यापक मेहनतकश जनता के जीवन और संघर्षों में भागीदारी करके ही मध्यवर्गीय छात्र अराजकतावाद, व्यक्तिवाद और मज़दूर वर्ग के प्रति तिरस्कार-भाव की प्रवृत्ति से मुक्त हो सकते हैं और सच्चे अर्थों में क्रान्तिकारी बन सकते हैं।

माओ त्से-तुङ ने लिखा है, "बुद्धिजीवी लोग जब तक तन-मन से क्रान्तिकारी जनसंघर्षों में नहीं कूद पड़ते, अथवा आम जनता के हितों की सेवा करने और उसके साथ एकरूप हो जाने का पक्का इरादा नहीं कर लेते, तब तक उनमें अक्सर मनोगतवाद और व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं, उनके विचार अव्यावहारिक होते हैं और उनकी कार्रवाइयों में दृढ़ निश्चय की कमी बनी रहती है। इसलिए हालाँकि चीन में क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों का जनसमुदाय एक हिरावल दस्ते की भूमिका अथवा एक सेतु की भूमिका अदा कर सकता है, फिर भी यह नहीं हो सकता कि उनमें से सभी लोग अन्त तक क्रान्तिकारी बने रहेंगे। कुछ लोग बड़ी नाजुक घड़ी में क्रान्तिकारी पाँतों को छोड़ जायेंगे और निष्क्रिय हो जायेंगे, यहाँ तक कि उनमें से कुछ लोग क्रान्ति के दुश्मन भी बन जायेंगे। बुद्धिजीवी लोग केवल दीर्घकालीन जनसंघर्षों के दौरान ही अपनी कमियों को दूर कर सकते हैं।" (माओ त्से-तुङ : 'चीनी क्रान्ति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी,' (दिसम्बर 1939), संकलित रचनाएँ, अंग्रेज़ी संस्करण, ग्रन्थ 2, पृ. 322)

माओ त्से-तुङ की यह उक्ति भारत के बुद्धिजीवियों के लिए भी होती है और छात्रों के लिए भी लागू होती है क्योंकि छात्र मध्यवर्गीय युवा बुद्धिजीवी ही होते हैं। क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन के कार्यक्रम में यह बात अनिवार्य रूप से शामिल होनी चाहिए कि छात्र कार्यकर्ताओं को कैम्पस के आन्दोलनों के अतिरिक्त, अपनी पढ़ाई-लिखाई से समय निकालकर मज़दूरों के बीच जाना चाहिए, उनकी जीवन- स्थितियों का अध्ययन करना चाहिए, छुट्टियों में उनके साथ रहना चाहिए, अध्ययन-मण्डलों, पुस्तकालयों, सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रचार कार्यों के द्वारा उन्हें शिक्षित करना चाहिए, उनके आन्दोलनों में शिरक़त करनी चाहिए, इस प्रक्रिया में स्वयं शिक्षित होना चाहिए और अपना वर्ग-रूपान्तरण करना चाहिए। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने 19 अक्टूबर 1929 को पंजाब छात्र संघ, लाहौर के दूसरे अधिवेशन के नाम जेल से भेजे गये अपने सन्देश में लिखा था कि क्रान्ति का सन्देश फैक्टरियों-कारख़ानों, गन्दी बस्तियों और गाँवों की झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों मेहनतकशों तक पहुँचाना छात्रों-नौजवानों की ज़िम्मेदारी है। यह बात आज भी सही है और क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन इसकी अनदेखी नहीं कर सकता।

माओ त्से-तुङ ने किसी नौजवान के क्रान्तिकारी होने-न होने की एकमात्र कसौटी यह बतायी थी कि वह नौजवान व्यापक मेहनतकश जनता के साथ एकरूप हो जाना चाहता है अथवा नहीं, और अपने अमल में वह ऐसा करता है अथवा नहीं (माओ त्से-तुङ : 'नौजवान आन्दोलन की दिशा,' (4 मई 1939), संकलित रचनाएँ, ग्रन्थ 2, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 246)।

भारत के छात्र-युवा आन्दोलन के लिए भी यह कसौटी शत-प्रतिशत सही है और आज हमें पूरी मज़बूती के साथ इस पर अमल करने की ज़रूरत है। तभी हम इस मोर्चे पर वास्तव में एक नयी शुरुआत कर पायेंगे और उसे आगे बढ़ा पायेंगे।

●

रामसेतु : किसके हेतु??

• शिवार्थ

हमारे भगवा ध्वजा-धारी आजकल एक मुद्दे को लेकर काफी परेशान हैं। चारों तरफ से इन निरीह धार्मिक प्राणियों की भावनाओं को काफी ठेस पहुँचायी गयी। पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग ने बोल दिया कि रामसेतु मानव निर्मित ढाँचा नहीं है। इस पर हमारे गेरुआ वस्त्र धारकों को काफ़ी धक्का पहुँचा और वे पुरातत्व विभाग के इस दुस्साहस पर अवाक रह गये। अभी वे इस झटके से उबर ही रहे थे कि सुप्रीम कोर्ट ने कह दिया कि राम के होने का कोई प्रमाण नहीं है। अब सुप्रीम कोर्ट से तो कुछ गाली-गलौच भी नहीं कर सकते, जैसा कि हमारे इन निरीह प्राणियों का मनपसन्द काम है, क्योंकि कोर्ट की अवमानना के मामले में भीतर हो जाएँगे। सुप्रीम कोर्ट आज की पूँजीवादी व्यवस्था के कुछ 'सेविंग ग्रेसों' में से एक है, हालाँकि इससे भी व्यवस्था की इज़्ज़त आजकल बच नहीं पा रही है। अभी हमारे भोले-भाले साधु, बजरंग दल वाले, आदि दूसरी ठेस से उबर भी नहीं पाए थे कि कांग्रेस की ओर से भी किसी ने कुछ ऐसा कह दिया जो अधार्मिक था और हिन्दू आस्थाओं पर हमला था। बस! फिर क्या था। हमारे इन अतिसहिष्णु साधुओं ने कहा : बस बहुत हुआ! अब हिन्दुओं का अपमान और श्रीराम का अपमान बर्दाश्त नहीं किया जाएगा और उन्होंने एक देशव्यापी 'आन्दोलन' शुरू कर दिया। दिल्ली में पाँच लाख साधु दण्ड-कमण्डल लेकर आ गये और बड़ा तमाशा मचाया। कांग्रेस हिन्दू वोटों के खिसकने के डर से अपने कहे को निगल गयी। सुप्रीम कोर्ट चुप्पी साध गया। पुरातत्व विभाग भी चुप हो गया।

संघ के समर्थक मीडिया कर्मियों ने अपने आदिपुरुष गोएबल्स की कार्यशैली को और विकसित करते हुए नासा की एक रिपोर्ट को गलत तरीके से उद्धृत करके बताया कि रामसेतु मानवनिर्मित ढाँचा है, जबकि नासा ने बाद में बताया कि उसकी रिपोर्ट में इसका बिल्कुल उल्टा कहा गया है। उसमें यही तो बताया गया है कि रामसेतु मानवनिर्मित नहीं है। यह प्राकृतिक संरचना है। लेकिन नासा के इस कथन को हमारे देश में महान मीडिया ने ज़रा भी हाईलाईट नहीं किया। उल्टे ऐसे हिन्दूवादी वैज्ञानिकों से इण्टरव्यू दिखाए जो काफी धर्मपरायण थे और उन्होंने झूठों का एक पूरा पुलिन्दा पेश कर डाला। कुछ ने कहा कि चाहे मानवनिर्मित हो या प्राकृतिक, इसे छेड़ने से पारिस्थितिक सन्तुलन गड़बड़ हो जाएगा। अब हम इस सवाल पर नहीं जाएँगे कि इससे क्या होगा और क्या नहीं होगा और प्रस्तावित परियोजना को लागू करना चाहिए या नहीं। हम पहले इस बात की जाँच करेंगे कि तथ्य हमें इस रामसेतु विवाद के बारे में क्या बताते हैं।

यह सेतु भारत में रामेश्वरम् द्वीप के दक्षिणी छोर और श्रीलंका के तलाईमन्नार(Talaimannar) के बीच पूर्व-पश्चिम दिशा में स्थित 30 बालू के टीलों की एक विच्छिन्न (discontinuous) श्रृंखला है। यह पाक की खाड़ी (Palk Bay) और मन्नार की खाड़ी (Gulf of Mannar) के बीच एक भौगोलिक विभाजक के रूप में कार्य करती है। पाक की खाड़ी और मन्नार की खाड़ी को जोड़ने के लिए प्रस्ताव पहली बार सन् 1860 में आया था। तब से इस तरह के कई प्रस्ताव आ चुके हैं। लेकिन 1998 में पहली बार ऐसी परियोजना राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार के दौरान शुरू की गयी। यह और बात है कि यही गठबंधन आज इसका सब इसका सबसे तीखे स्वर में विरोध कर रहा है। शायद भगवा ब्रिगेड को पता था कि ऐसी परियोजना को मंजूरी अभी दे दो। शुरू होने का समय आते-आते हमारी सरकार तो जा चुकी होगी। फिर कम-से-कम हमारे पास इसका विरोध करने के रूप में एक मुद्दा तो रहेगा!! ख़ैर, इस परियोजना का उद्घाटन 2005 में मनमोहन सिंह की सरकार के द्वारा किया गया।

विवाद की शुरुआत

यह सब शुरू हुआ सन् 2002 में जब नासा ने पाक की खाड़ी में उपग्रहों द्वारा लिए गए कुछ चित्रों को जारी किया। यह चित्र बालू के टीलों की एक श्रृंखला को दिखाते थे। इन चित्रों ने हमारे देश के हिन्दूवादी संगठनों और पार्टियों की कार्यवाहियों में नई जान फूँक दी। इन चित्रों के बारे में इन संगठनों की टिप्पणी कुछ इस प्रकार थी - "नासा इस सेतु के 'अद्वितीय आकार' के कारण इसे एक मानव-निर्मित ढाँचा मानती हैं।" हालाँकि, नासा के अधिकारी मार्क हेस का कहना है—"रिमोट सेंसिग चित्र और उपग्रह द्वारा लिए गए चित्र इन श्रृंखलाओं के बारे में कोई सीधी जानकारी नहीं दे सकते और न ही इनकी उत्पत्ति और उम्र के बारे में कुछ कह सकते हैं, और इस बात को तो कतई नहीं बता सकते कि यह मानव-निर्मित है या नहीं।"

वैज्ञानिकों के अनुसार यह विवादित द्वीप समूह लगभग सवा एक लाख साल पहले अस्तित्व में आया था। इतिहासकारों ने बताया कि रामायण लिखे जाने के अनुसार अगर रामायण जैसी

कोई घटना कभी हुई भी होगी तो वह 2000 वर्ष से पहले नहीं हो सकती। इस पर संघ के साधु बहुत नाराज़ हुए। उन्होंने हम सब का ज्ञानवर्द्धन करते हुए बताया कि श्रीलंका के सबसे पहले निवासी 17.5 लाख साल पहले रहते थे! वैज्ञानिकों ने उनको यह समझाने की बहुत कोशिश की कि इस धरती पर आधुनिक मानवों का अस्तित्व ही 2 लाख वर्ष से अधिक का नहीं है। लेकिन उन्होंने मानने से इंकार कर दिया। वैज्ञानिक फिर उनके पास पुरातात्विक और जीवाश्मीय प्रमाणों का अध्ययन लेकर भी गये और उन्होंने बताया कि आधुनिक मानव (होमो सेपियंस सेपियंस प्रजाति) का आविर्भाव दो लाख साल पहले हुआ और भारतीय उपमहाद्वीप में मानव सिर्फ एक लाख साल पहले आया है। लेकिन फिर भी दिव्यचक्षु प्राप्त साधुओं ने सिर हिलाकर मानने से इंकार कर दिया। थक-हार कर वैज्ञानिक वापस आ गये। अब तो संघ परिवार अड़ गया कि राम 17.5 लाख साल पहले हुए थे। वैज्ञानिकों ने स्वयं पर सन्देह करते हुए पूछा कि क्या राम डायनासोर थे? इस पर साधुगण और नाराज़ हो गये। अब उन्होंने देश भर में रामसेतु को रामेश्वरम परियोजना से बचाने के लिए पूरा आन्दोलन ही छेड़ दिया। सरकार शुरू में तो अड़ी रही फिर इस पर थोड़ा झुकते हुए कहा कि रामेश्वरम परियोजना के रास्ते को बदलने पर वह विचार कर सकती है, जिससे कि रामसेतु न टूटे। फिर तो सभी चुनावी पार्टियों (कुछेक अपवादों, जैसे द्रमुक) को छोड़कर सभी ने समझौतापरस्त रुख़ अख़्तियार किया और कहने लगे कि रामसेतु को बचाया जाना चाहिए। भगवा कैम्प में चारों तरफ, एक बार फिर विज्ञान पर आस्था की विजय होने की खुशियाँ मनाई जाने लगीं।

लेकिन हम ज़रा इन वैज्ञानिक एजेंसियों की खोज पर निगाह डालना पसन्द करेंगे और पाठकों से चाहेंगे कि वे भी इन पर ग़ौर करें और फिर उन्हें आस्था को तरजीह देनी है या विज्ञान और तर्कपरकता को, इसका फैसला स्वयं करें।

भारत की दो स्वतंत्र ऐजेंसियों जियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया और इण्डियन स्पेस रिसर्च ऑर्गनाइज़ेशन ने रामसेतु के उद्भव को लेकर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। जी.एस.आई. ने दिसम्बर 2002-मार्च 2003 के बीच में 'रामेश्वरम परियोजना' नामक विशेष कार्यक्रम तैयार किया था। इस कार्यक्रम के अंतर्गत निम्नलिखित कार्य किये गये।

(1) सतही तलछट को इकट्ठा करने के लिए रामेश्वरम् द्वीप के पूर्वी हिस्से में चार गढ्ढे किए गए।

(2) रेडियोकार्बन डेटिंग और थर्मोल्यूमिनिसन्स डेटिंग के लिए इस क्षेत्र की अलग-अलग जगहों से नमूने लिए गए।

इसके बाद जीएसआई द्वारा निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये :

मूँग की चट्टानों के उम्र संबंधी विवरण बताते हैं कि रामेश्वरम् द्वीप 1,25,000 साल पुराना है। इसके निर्माण के लिए अनेक समुद्रतटीय प्रक्रियाएँ जिम्मेदार रही हैं। इनमें अतीतकाल में समुद्रतटों में होने वाले परिवर्तन, वायुजनित अनेक प्रकार की क्रियाशीलताएँ आदि प्रक्रियाएँ शामिल रही हैं। इन्हीं प्रक्रियाओं से मण्डपम, रामेश्वरम् और रामसेतु जैसे समुद्री तटीय क्षेत्रों का विकास हुआ है। इन्हीं प्रक्रियाओं में आगे चलकर समुद्रतटीय रेत के टीलों का विस्तार, द्वीपों की श्रृंखलाओं (रामसेतु भी) का अस्तित्व पैदा हुआ था। रेडियोकार्बन डेटिंग बताती हैं कि यहाँ के जलस्तर में लगातार बदलाव होते रहे हैं। करीब 20,620 साल पहले जब जलस्तर अपने न्यूनतम पर था, इसी समय रामेश्वरम् और मन्नार के बीच का क्षेत्र प्रदर्शित हुआ। थर्मोल्यूमिनिसंस डेटिंग बताती हैं कि इस क्षेत्र में बालू के टीले करीब 500-600 साल पहले जमे थे।

2003 में इसरो ने इसको लेकर कुछ अंतरिक्ष आधारित अनुसंधान किए थे। उनके निष्कर्ष इस प्रकार थे :

रामसेतु एक मानव-निर्मित ढांचा नहीं है। यह 103 छोटी चट्टानों से बना हुआ है जो कि एक सीधी रेखा में हैं। इसके सीधे आकार का कारण इस क्षेत्र का पुरानी समुद्री तट है, जो यह बताता है कि पहले श्रीलंका और भारत एक ही जमीन के टुकड़े थे, जहाँ से ये मूंगे की चट्टानें विकसित हुई हैं। अनुसंधान ये भी बताते हैं कि, इन बालू के टीलों की अवस्थिति और आकार 1999-2000 और फिर 2000-2005 के दौरान परिवर्तित हुए हैं।

उपलब्ध तथ्यों और जानकारी के आधार पर एन.रामानुजन कॉलेज के भूविज्ञान विभाग के विभागाध्यक्ष चिदम्बरम ने इस क्षेत्र के भूवैज्ञानिक विकास को प्रस्तुत करने की कोशिश की है।

आज से करीब 1500-700 लाख साल पहले, जब इण्डियन प्लेट इस्ट एण्ड वेस्ट गुवानालैण्ड से अलग नहीं हुआ था, तब पाक की खाड़ी और मन्नार की खाड़ी प्री-कैम्बियन बेसमेण्ट चट्टान के हिस्से थे। इण्डियन प्लेट के उत्तरी स्थानान्तरण और यूरेशियन प्लेट के साथ इसकी टकराहट ने जो तनाव पैदा किया, वह पश्चिमी प्रायद्वीप में मैन्टल अपवेलिंग और क्रेस्ट डाउनवॉर्पिंग का कारण बना। इसी के फलस्वरूप कावेरी बेसिन बना और पहाड़ों से पृथक किए हुए कई बड़े अवनमन (डिप्रेशन) बने। ये पहाड़ियाँ मूँगे की चट्टानों के विकास का केन्द्र बनी। और ऊँचा होने के कारण यह बालू को रोकने वाले ढाँचे भी बने। इसने मण्डापम के समुद्रीतट को भी प्रभावित किया और समुद्री धाराओं की दिशा बदल दी। इस दिशा परिवर्तन ने बालू मिट्टी आदि के एकत्रित होने की प्रक्रिया को तेज़ कर दिया, जो कि अंततः बालू के टीलों के रूप में 'राम-सेतु' बन जाता है।

उपरोक्त सभी अध्ययन उन प्राकृतिक कारणों का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं जिनके प्रभाव में 'राम-सेतु' पैदा हुआ है, या जिनसे 'राम-सेतु' का निर्माण हुआ है। ऐसा सेतु या ऐसा प्राकृतिक ढाँचा सिर्फ हमारे देश में नहीं पाया गया है। ऐसे ही कुछ ढाँचे दक्षिणी अमेरिका, जापान और फिलीपींस जैसे देशों में

भी पाए गए है। इनके अस्तित्वमान होने के कारण अलग-अलग रहे हैं, लेकिन ये अस्तित्वमान प्राकृतिक कारणों से ही है। लेकिन इन देशों में ऐसी चीज़ों को देशव्यापी राजनितिक मुद्दा नहीं बनाया जा सकता, जैसा कि हमारे देश में हुआ है।

इसके कारण भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ और इसका इतिहास भी है। सुनने में ताज्जुब हो सकता है लेकिन यह सच है। यहाँ प्रश्न यह है कि भारतीय जनमानस में तर्कपरकता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रति आग्रह इतना कम क्यों है? इसके कई कारण हैं। एक प्रमुख कारण रहा है कि भारतीय समाज का विकास क्रमिक रहा है, यह क्रान्तियों से होकर नहीं गुज़रा। समाज हमेशा गतिमान रहता है, लेकिन क्रान्ति सामाजिक चेतना को एक स्तर से दूसरे तक छलाँग लगाने में मदद करती है। यह छलाँग पूर्व की प्रवृत्तियों से निर्णायक विच्छेद करने में मदद करती है। जब यूरोप प्रबोधन की रोशनी में नहा रहा था उस समय हमारा देश औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के तहत आकर अपने स्वाभाविक विकास की गति को खो रहा था। भारत में धार्मिक सुधार आन्दोलनों में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए नये उदीयमान वर्गों का दावा दिखना अभी भ्रूण रूप में शुरू ही हुआ था कि अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने भारत को उपनिवेश बना लिया। भारत में भी स्वाभाविक विकास होने की सूरत में निश्चित रूप से ऐसे आन्दोलन शुरू हो सकते थे जो तर्कपरकता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जनमानस में स्थापित करते और उसे अन्धविश्वास, ढकोसलों, पाखण्ड और अवैज्ञानिकता से मुक्त करते। कहने की ज़रूरत नहीं है कि ऐसे आन्दोलन यूरोपीय आन्दोलनों से भिन्न होते। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हो सका और औपनिवेशीकरण ने भारत के विकास की स्वाभाविकता को विकृत कर दिया और उसे ब्रिटेन के फायदे के लिहाज़ से ढाला। यही कारण है कि भारतीय जनमानस में लाख पढ़ाई और विज्ञान जानने के बावजूद तर्कपरकता का एक अभाव होता है क्योंकि सामाजिक-आर्थिक क्रान्तियाँ देश की जनता के मस्तिष्क को तमाम बेड़ियों से मुक्त करतीं और उन्हें तर्कपरक बनातीं।

अब एक विडम्बनापूर्ण स्थिति यह है कि भूमण्डलीकरण और पूँजीवादी विकास के इस दौर में देश विज्ञान और तकनोलॉजी से कटकर तो नहीं रह सकता। इसलिए उन्नततम तकनोलॉजी का हर नमूना है हमारे पास। लेकिन वह सारे ढकोसलों के साथ मौजूद है। उदाहरणस्वरूप, हमारे यहाँ आज नवीनतम उपकरण बन रहे है, हर एक क्षेत्र में। हम सबसे उन्नत तकनीक से अपने अंतरिक्ष यान या युद्ध के हथियार बनाते है। जब इनको लाँच किया जाता है, या जब पहली बार इस्तेमाल किया जाता है तो टीका लगाया जाता है और मन्त्रोच्चार किया जाता है। विज्ञान और पोंगापंथ का ऐसा 'अट्ट संगम' भारत में ही देखने को मिल सकता है।

पूरे मुद्दे के विश्लेषण के दौरान एक और चीज़ जो ग़ौर करने लायक है, वह है इस मुद्दे पर सबसे अधिक रोना-पीटना मचाने वाले लोगों का वर्ग-चरित्र। जिन्होंने भी रामसेतु को बचाने का आह्वान करने वाले पोस्टर और बैनर देखे हैं उन्होंने उस पर शायद निवेदकों और आयोजकों के नाम पर ग़ौर किया हो, जो विश्व हिन्दू परिषद की ओर से ये बैनर-पोस्टर लगवाते हैं। इनमें से 99 प्रतिशत व्यापारी होते हैं या प्रॉपर्टी डीलर या फिर दलाल। ये लोग टुटपुँजिया वर्ग के सबसे गैर-जनवादी, परजीवी, लालची, धार्मिक कट्टरपंथी, जातिवादी और फासीवादी हिस्सों से आते हैं—दुकानदार, डीलर, एजेण्ट, दलाल, आदि। इनके प्रदर्शनों पर ग़ौर कीजिये। इनमें अधिकांश खाए-अघाए-मुटियाए दुकानदारों और व्यापारियों का जमावड़ा होता है। यही भारत में पुनरुत्थानवादी धार्मिक कट्टरपंथी फासीवाद का सामाजिक आधार हैं। ये वर्ग अन्दर से जनविरोधी, मज़दूर-विरोधी और गैर-जनवादी हैं। जहाँ तक पढ़े-लिखे मध्यवर्ग का प्रश्न है, उसका भी एक छोटा-सा हिस्सा अपनी दिमाग़ी गुलामी के चलते इस तरह के प्रदर्शनों में जाता है। निम्न मध्यवर्ग के बेरोज़गार युवाओं को भी ये धार्मिक कट्टरपंथी बरगलाकर अपने इन प्रदर्शनों में खींच ले जाते हैं। लेकिन जहाँ तक देश की 80 फीसदी मेहनतकश जनता का प्रश्न है, उसे इस तरह के मुद्दों से कोई लेना-देना नहीं होता। वह आम तौर पर अपनी ज़िन्दगी की जद्दोजहद में ही इतना उलझा रहता है कि उसे ऐसे पोंगापंथी मुद्दों पर सोचने का वक्त ही नहीं रहता। और अगर सोचने का वक्त होता भी तो वह इसकी व्यर्थता को समझ जाता।

अमेरिका के जनतंत्र-प्रेम की हक़ीक़त

(पेज 26 से जारी)

है। वियतनाम का उदाहरण बार-बार दिया ही जाता है लेकिन वह एकमात्र उदाहरण नहीं है। वियतनाम में तो उसे सबसे शर्मनाक पराजय का मुँह देखना पड़ा था। इसके अतिरिक्त, उसे उत्तर कोरिया में भी पराजय का मुँह देखना पड़ा था, हाल हीं में लेबनान में अमेरिकी समर्थित इज़रायली गुण्डों की भी लेबनान की जनता ने अच्छी तरह ख़बर ली। इराक़ में भी एक के बाद एक मोर्चों पर अमेरिकी सेना को छापामार योद्धाओं से भारी चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। लेकिन साथ ही इतिहास इस बात का भी गवाह रहा है कि पीछे हटते अमेरिकी लुटेरे हमेशा निहत्थी जनता पर अपने बर्बर पौरुष और "वीरता" का प्रदर्शन करते हैं और सबसे जघन्य किस्म के नरसंहारों को अंजाम देते हैं। ऐसा इन साम्राज्यवादी कायरों ने वियतनाम में भी किया, कोरिया में भी, लेबनान में भी और इराक़ में भी वे ऐसा ही कर रहे हैं। इन साम्राज्यवादियों के साथ इंसाफ़ करने का काम इस दुनिया की मेहनतक़श जनता करेगी और इस धरती पर गिरे हर खून के कतरे का हिसाब इनसे गिन-गिनकर लिया जाएगा।

पैदा हुई पुलीस तो इबलीस ने कहा, लो आज हम भी साहिबे-औलाद हो गये!

कैम्पस के अन्दर भावी पुलिसकर्मियों का ताण्डव

● कुणाल

राजधानी दिल्ली में कदम रखते ही सब कुछ व्यवस्थित, खूबसूरत और साफ सुथरा दिखता है। चौड़ी सड़के, ऊँची इमारतें, बड़े-बड़े शॉपिंग मॉल, तेज रफ्तार से चलती गाड़ियाँ और चमचमाती मेट्रो ट्रेने—यह सब चीज़ें किसी को भी प्रभावशाली लग सकती हैं। और इस प्रभाव में हम यह भी मान लेते हैं की राजधानी में हर चीज बहुत व्यवस्थित है—चाहे यहां का न्याय-तंत्र हो, पुलिस हो या कोई सरकारी दफ्तर हो, सब लोग अपना काम बेहद ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठता से करते हैं। चलिए तो फिर भारत की राजधानी दिल्ली में राज-काज के कितने व्यवस्थित ढंग से किये जाते है, इस पर एक नज़र डालते हैं।

15 और 16 सितम्बर को दिल्ली विश्वविद्यालय के नार्थ कैम्पस के इन्द्रप्रस्थ कॉलेज की छात्राओं के साथ दिन-दहाड़े छेड़छाड़ व यौन उत्पीड़न की कई घटनाएँ सामने आई। अकेली जा रही छात्राओं को रास्ते में रोक दो-दो सौ लड़कों ने घेरकर, उनके साथ बदतमीज़ी की, अश्लील फिकरे कसे और गालियाँ दीं। इन लड़को का पशुवत् व्यवहार इस हद तक जा पहुँचा कि इन्होंने कुछ लड़कियों के कपड़े तक फाड़ दिये। कुछ ने रिक्शों को रोक, उनमें बैठी लड़कियों के सामने अपने जंगलीपन और असभ्यता का उदाहरण पेश किया तो कुछ ने बस स्टॉप व दुकानों पर खड़ी लड़कियों को अपनी कुण्ठा का शिकार बनाया।

इन तमाम नीच और अमानवीय कार्यों को अन्जाम देने वाले और कोई नहीं बल्कि इस देश की 'स्कॉटलैन्ड यार्ड' कही जाने वाली दिल्ली पुलिस में भर्ती की परीक्षा देने आये लड़के थे। ये वही लोग हैं जिनमें से कुछ की छँटनी करके, बाकी को जनता की 'रक्षा' के लिए प्रशिक्षित किया जाएगा। शर्मनाक बात यह है की जब दिन-दहाड़े यह बर्बरता की जा रही थी तो उस इलाके में तैनात दिल्ली पुलिस के कर्तव्यपरायण पुलिसवाले नपुन्सकों की तरह पूरा तमाशा देखते रहे।

घटना के बाद जब कुछ छात्राएँ रिपोर्ट दर्ज कराने कैम्पस स्थित मुखर्जी नगर थाने गयीं तो वहाँ उनकी बात सुनने के कोई भी महिला पुलिसकर्मी मौजूद नहीं थी। बाकी बैठे पुरुष पुलिसकर्मियों ने भी पहले छात्राओं की शिकायत को अनसुना कर दिया और बाद में बात को टालने के लिये छात्राओं के छेड़छाड़ और यौन उत्पीड़न के वर्णन देने के लिए उन्हें बाध्य किया और उनसे अश्लील सवाल पूछे। इस सब से आश्चर्यचकित होने की कोई ज़रूरत नहीं है।

दिल्ली पुलिस में भर्ती के लिए आये लड़कों में से एक भारी मात्रा दिल्ली के आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों में से आती हैं। इन इलाकों से धनी किसानों के लड़के पुलिस में भर्ती होने के लिए आते हैं। इनमें से अधिकांश लड़के खाते-पीते घरों की बिगड़ी हुई औलादें होती है जिन्हें पैसे का नशा होता है। वे समाज को अपनी जागीर समझते हैं और बेहद स्त्री विरोधी होते हैं। उनके लिए स्त्रियाँ भोग की वस्तु से अधिक और कुछ भी नहीं होतीं। जनवादी चेतना से इनका दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं होता। ऐसे में समाज में अपनी लम्पटई को खुले तौर पर करने के लिए अगर कोई बेहतरीन लाईसेंस हो सकता है, तो वह पुलिस की नौकरी ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त नवधनाढ्यों के ये लड़के पैसे की संस्कृति के बुरी तरह गुलाम होते हैं। पैसा बनाने का भी तेज़ जरिया इन्हें पुलिस की नौकरी में मिलता है। यही कारण है कि हर वर्ष दिल्ली पुलिस में शामिल होने के लिए आने वाले इन नवधनपतियों की बिगड़ी औलादों की संख्या में तेज़ी से बढ़ोत्तरी हो रही है। दिल्ली में पुलिस में शामिल होने के लिए लिखित परीक्षा की तैयारी करवाने वाले कोचिंग सेण्टरों की भरमार हो गयी है।

इसके अलावा, सोची-समझी साज़िश के तहत, पुलिस की प्रशिक्षण-प्रक्रिया को अमानवीय रूप से कठिन बनाया जाता है और बची-खुची इन्सानियत भी इस प्रशिक्षण के दौरान निचोड़ ली जाती है। और इस प्रकार, कुछ साल बाद, पुलिस प्रशिक्षण केन्द्र से कुण्ठित पशुओं का एक झुण्ड निकलकर बाहर आता है, जिसे शहर के अलग-अलग हिस्सों में ''गुण्डागर्दी के लाईसेन्स'' का अधिक से अधिक उपयोग करने लिये तैनात कर दिया जाता है। परन्तु इस 'लाईसेन्स' के बदले यह व्यवस्था, पुलिसवालों से वफादारी की माँग करती है। और इस कसौटी पर पुलिस एकदम खरी उतरती है। ये बात रोज़ाना की ख़बरों और तजुर्बो से एकदम साफ हो जाती है। चाहे छात्रों और मज़दूरों के आन्दोलनों की फैलती आग को अपनी बर्बता से बुझाना हो या फिर कोई इमारत, मॉल या विशेष आर्थिक क्षेत्र बनवाने के लिये बस्तियाँ और गाँव उजाड़ने हों। चाहे किसी धन्नासेठ के लड़के द्वारा किये

गये अपराध में झूठा केस बनाकर किसी गरीब को फँसाना हो या फिर किसी मंत्री की ब्लू लाइन बस के नीचे कुचले गये मासूमों के खून के धब्बों को मिट्टी डाल छुपाना हो, पुलिस इन कामों को पूरी 'सतर्कता' और 'ईमानदारी' से करती है।

कुछ ऐसी ही हालत भारत के बाकी पुलिस बलों की है। इन पुलिस बलों ने ही नोएडा से सालों-साल ग़रीब बच्चों के गायब होने की घटनाओं को अनदेखा कर मोनिन्दर सिंह पन्धेर को उसकी हवस मिटाने में मदद की। नन्दीग्राम में जब मेहनतकश जनता हकों के लिए उतरती है तो ये पुलिस उनपर गोलियाँ बरसाती है, महिलाओं के साथ बलात्कार करती है और अपने कुकर्मों को छुपाने के लिए शवों पर नमक डाल कर दफना देती है।

इस प्रकार की हजारों घटनाएँ रोज़ाना देश के अलग-अलग कोनों में घटती हैं। यह घटनाएँ आम जनता के प्रति पुलिस के रवैये को दर्शाती है। दूसरी तरफ, ये पुलिस पूँजीपतियों, मंत्रियों, फिल्मी हस्तियों के तलवे चाटने में भी अव्वल होती है। असल में पुलिस सबसे संगठित गुण्डा फोर्स के समान है जिसे रखा ही इसलिए जाता है कि पूँजीपतियों और अमीरों के हितों की रक्षा की जा सके और पूँजीवादी व्यवस्था को बर्बर बल का उपयोग करके "व्यवस्थित ढंग" से चलाया जा सके।

सामयिकी

संसदीय वामपंथियों का अमेरिका-प्रेम!

● शिवानी

अभी कुछ दिन पहले एक हिन्दी अख़बार में एक मज़ेदार ख़बर पढ़ने को मिली। इस ख़बर में हमारे देश के तथाकथित वामपंथी नेताओं के कुछ अनछुए पहलुओं पर रोशनी डाली गई जो अब तक दृष्टिओझल थे(क्या कहा? क्या अभी भी इनके बारे में कुछ और जानना बाक़ी है!)।''वामपंथी'' पार्टियों की संशोधनवादी राजनीति, जो अनगिनत विरोधभासों का समन्वय है, इनकी कथनी और करनी में जो ज़मीन-आसमान का फ़र्क है, वह इसी बात से साफ़ हो जाता है कि राजनीति में बेहद गरम-गरम बातें करने वाले हमारे ये ''लाल'' तोते, व्याक्तिगत जीवन में अमेरिका को काफ़ी पसन्द करते हैं (चौंकिए नहीं! मगर यह वही अमेरिका है जो इनके द्वारा हर विरोध प्रदर्शन, रैली और धरनों में साम्राज्यवादी कहकर लताड़ा और कोसा जाता है)।

इस ख़बर के मुताबिक अधिकांश ''वामपंथी'' नेताओं के बच्चे अमेरिकी विश्वद्यिालयों में पढ़ रहे हैं। कुछ बड़े माकपा नेताओं की बेटियाँ तो शादी के बाद अमेरिका में ही बस चुकीं हैं। यही नहीं, हर साल इनके कई नेता अमेरिका की यात्रा के लिए हवाई जहाज़ पकड़ते हैं। घुम्मण जाने वास्ते इनको अमेरिका बहुत भाता है। देखिये अब यह मत पूछियेगा कि जब वे व्यक्तिगत ज़िन्दगी में अमेरिका के प्रति अपनी बेपनाह मुहब्बत का इस तरह से इज़हार करने का एक मौक़ा नहीं गँवाते, तो फिर क्यों बिना मतलब हर बात पर इस "सोहने-सलोने" अमेरिका को पानी पी-पीकर कोसते रहते हैं!

जब इन संसदीय वामपंथी बातबहादुरों से पूछा गया कि 'महोदय, आपकी कथनी और करनी में यह मायावी विरोधाभास कैसे? इसे कैसे समझा जाय?' तो इनका कहना था कि आपकी पार्टी विचारधारा और व्यक्तिगत जीवन में फ़र्क करती है! बाप रे बाप! हम तो चक्कर ही खा गये! कैसी विचित्र दैवीय अलौकिक तर्कपद्धति है! हमने तो मार्क्सवाद के बारे में जितना पढ़ा तो उससे हमें लगा था कि राजनीतिक व्यक्तिगत होता है और व्यक्तिगत राजनीतिक। इनमें कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। और यह भी कहीं पढ़ा था शायद कि जैसा जीवन होता है उसका प्रभाव विचारधारा और राजनीति पर दिखने लगता है! कोई हमसे यह भी कह रहा था कि अमेरिका के प्रति आपका यह प्रेम दरअसल इसी बात को दिखलाता है कि व्यक्तिगत जीवन में आप जैसे जीते हैं उसी की छाया आपकी राजनीति और विचारधारा पर भी नज़र आती है।

अगर हमें सुधी पाठकगण एक और बात पर ग़ौर करने की इजाज़त दें तो हम विनम्रतापूर्वक बताना चाहेंगे कि भारत के संसदीय वामपंथी बातबहादुरों की कार्यशैली और जीवनशैली में कुछ अहम बदलाव आए हैं। पहले अपने स्वर्गसुखभोग को मज़दूरों के ये दिव्य प्रतिनिधि कुछ परदों के भीतर किया करते थे। फिर कुछ भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की हवा ने इन फटे-पुराने परदों को उड़ा दिया और बचे-खुचे परदे इन्होंने अपनी बढ़ती बेशर्मी के कारण खुद ही फाड़ दिये! पहले मजाल थी कि कोई पत्रकार जान पाए कि निजी जीवन में इन वामपंथियों को अमेरिका से बेइन्तहाँ प्यार है? अब ये खुद ही नहीं छिपाते कि उन्हें अपने बच्चों को पढ़ाने और खुद अपने घूमने के लिए अमेरिका काफ़ी पसन्द है।

ख़ैर जो भी हो, इस ख़बर में जो कुछ सामने आया है, उससे चौंकने की ज़रूरत नहीं है। यह तो एक न एक दिन पता चलना ही था।

●

समाज

सूचना प्रौद्योगिकी सेक्टर में रोज़गार के अवसर : किसके लिए?

● श्वेता

आजकल ज्ञान अर्थव्यवस्था (नॉलेज इकनॉमी बूम) में आ रही "तेज़ी" का खूब राग गाया जा रहा है। बहुत ही ज्यादा हो-हल्ले और हर्षोल्लास के साथ इस बात का ऐलान किया जा रहा है कि सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र (आई.टी. सेक्टर) में लगातार रोज़गार के नए-नए अवसर पैदा हो रहे हैं। यही नहीं बेरोज़गारी के लगातार कम होने के बड़े-बड़े दावे किए जा रहे हैं। केवल सरकार ही नहीं बल्कि दो कौड़ी के बाजारू अख़बार व पत्रिकाएँ भी लागों के सामने भ्रामक "गुलाबी" तस्वीर पेश कर रही है।

आइए ज़रा देखा जाए कि सरकार के इन बड़े-बड़े दावों में कितनी सच्चाई है! बंगलूर को सूचना प्रौद्यगिकी का केन्द्र माना जाता है। अभी हाल ही में यहाँ किए गए नमूना सर्वेक्षण के जरिए कई ऐसे तथ्य सामने आए जिन पर ग़ौर करना दिलचस्प होगा। अक्सर ऐसा कहा जाता है कि सूचना प्रौद्योगिकी समाज के एक व्यापक हिस्से को रोज़गार दिला पाने में सक्षम है। इस सर्वेक्षण से यह बात सामने आ गयी है कि आखिर जिन रोज़गारों के बूते नॉलेज इकनॉमी बूम का साज़ छेड़ा गया है वह रोजगार इस देश के कितने नौजवानों को नसीब हो पा रहा है।

समाज में शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच का मतभेद अत्यन्त गहरा है। शारीरिक श्रम के प्रति घृणा का भाव और उसे कम करके आँकने की हमारी मानसिकता बहुत लम्बे समय से हमारे दिलो-दिमाग में रचे-बसे हैं। इसलिए हम लोगों का झुकाव प्रायः ऐसे कामों की तरफ होता है जिनमें मानसिक पहलू ज्यादा होता है। यही कारण है कि सूचना प्रौद्योगिकी में पैदा हो रहे रोज़गारों से हमें उम्मीद बँधती दिखाई देती है। इसलिए आम घरों से आए छात्र-छात्राएँ भी इन रोज़गारों में अपनी जगह बना पाए, इसके लिए वे हर मुमकिन कोशिश में जुट जाते है।

सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र के भीतर भी वर्ग पदानुक्रम प्रत्यक्ष रूप में देखने को मिलता है। यहाँ भी अलग-अलग पदों के लिए लोग नियुक्त किए जाते है (जैसे कि एग्जीक्यूटिव, मैनेजर, एसोसिएट्स, इंजीनियर, चपरासी आदि)। कामों में किया गया यह विभाजन किसी भी व्यक्ति विशेष की शैक्षणिक पृष्ठभूमि (जो कि असल में उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि से जुड़ी होती है) के आधार पर तय किया जाता है। खैर, यह चर्चा एक अलग लेख की माँग करता है जिस पर किसी और दिन तफसील से बात की जा सकती है। फिलहाल हम मुद्दे पर वापस आते हैं।

इस नमूना सर्वेक्षण के दौरान पता चला कि सर्वेक्षण के तहत आए कुल सॉफ्टवेयर पेशेवर (सॉफ्टवेयर प्रोफेशनल) में से 80 प्रतिशत के पिता ग्रेजुएट हैं। इन कम्पनियों में काम कर रहे लोगों में केवल 2.2 फीसदी ऐसे थे जिनके पिता की शिक्षा बारहवीं या उससे कम थी। 56 फीसदी की माताएँ या तो ग्रेजुएट थीं या उससे अधिक शिक्षित थीं। इससे साफ तौर पर मालूम पड़ता है कि इन सूचना प्रौद्योगिकी की कम्पनियों में ज्यादातर वे लोग ही अपनी जगह बना पाते हैं जिनके परिवारजनों ने अच्छी शिक्षा प्राप्त की होती है। इनमें 84 फीसदी के पिता ऐसे व्यवसायों में लगे थे जिन्हें उच्च मध्यमवर्गीय व्यवसायों की श्रेणी में गिना जाता है। 21 फीसदी और 10 फीसदी के पिता पब्लिक व प्राइवेट सेक्टर की कम्पनियों क्रमशः मैनेजर और एक्जीक्यूटिव के पद पर काम कर रहे थे, 21फीसदी के पिता सरकारी अफसरी कर रहे थे, 18 फीसदी के पिता या तो डॉक्टर या फिर प्रोफेसरी जैसे पेशों से संबंध रखते थे, 13 फीसदी के पिता व्यापार जगत से जुड़े थे। इनमें से केवल 9 फीसदी के पिता छोटे दर्जे के व्यवसायों से जुड़े थे और 3 फीसदी के पिता खेती-बाड़ी का काम कर रहे थे। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि सूचना प्रौद्योगिकी में काम करने वाली अधिकतम आबादी खाते-पीते मध्यमवर्गीय परिवारों से आती है जिनका जीवन सुविधा सम्पन्न होता है और जीवन की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के बारे में उन्हें कोई चिंता नहीं होती है।

सर्वेक्षण के अन्य पहलुओं पर अगर एक सरसरी नज़र दौड़ई जाए तो समझ में आता है कि सूचना प्रौद्योगिकी में काम करने वाले लोग जिनका अध्ययन किया गया उसमें से 36 फीसदी का जन्म किसी न किसी मेट्रो शहर में हुआ हैं; 29 फीसदी का जन्म दूसरे दर्जे के शहरों में हुआ है (जैसे मैसूर और पुणे) और 31 फीसदी का जन्म तीसरे दर्जे के शहरों में हुआ था, कम्पनियों में काम करने वाले लोगों में से 5 फीसदी ईसाई हैं, 2 फीसदी हिस्सा मुसलमानों का है। इस परिघटना को भी वर्ग दृष्टिकोण से देखने की जरूरत है क्योंकि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अल्पसंख्यकों का अधिकतम हिस्सा गरीबी और बदहाली में गुज़र बसर कर रहा है और अल्पसंख्यकों का जो छोटा-सा हिस्सा ऐसी कम्पनियों में नौकरियाँ पाने में समक्ष है, वह खाते पीते घरों से आता है।

वैसे तो इस पूरी परिघटना को व्यापक परिपेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है क्योंकि इन कम्पनियों में जो लोग जगह बनाते है वे मुख्यतः इंजीनियरिंग छात्र-छात्राएँ होते हैं। और यह बात किसी से छुपी नहीं है कि इंजीनियरिंग कॉलेजों में दाखिला पाने वाले छात्र मुख्यतः उच्च मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से आते है जिनके परिवारजनों के पास इतने आर्थिक संसाधन होते हैं कि वे अपने बच्चों को उच्च और महँगी शिक्षा दिला पाएँ। ज्यादातर कॉलेजों की सालाना फीस 40,000 से 50,000 रुपये के बीच होती है। यही नहीं , इन कॉलेजों में दाख़िले के लिए जो प्रवेश परीक्षा होती है, उसकी तैयारी कराने के लिए तरह-तरह के कोचिंग सेण्टर आज मैदान में उतरकर छात्रों को लुभाने में जुटे हुए है। इन कोचिंग सेन्टरों की फीस भी कुछ कम नहीं होती, (सालाना तकरीबन 20,000 रुपये)। ऐसे हालातों में क्या आम घर से आए हुए छात्रों के लिए इंजीनियरिंग कॉलेजों में दाखिला पाना मुमकिन है? इसलिए एक बहुत बड़ी आबादी तो पहले ही इन कॉलेजों तक पहुँचने में असमर्थ है। वे पहले ही अपनी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि की वजह से दरकिनार कर दिये जाते हैं। इसके बावजूद आम घरों से आने वाली एक छोटी सी आबादी जो किसी तरह से इन कॉलेजों तक अपनी पहुँच बनाती है, उसे भी देर-सवेर इन कम्पनियों से दूर खदेड़ दिया जाता है। इन कम्पनियों में भर्ती की प्रक्रिया को अत्यन्त जटिल बना दिया गया है ताकि साधारण पृष्ठभूमि के छात्र वहाँ तक न पहुँच पाए।

आइये ज़रा एक बार सॉफ्टवेयर कम्पनियों में भर्ती (कैम्पस पैलेसमेंट) की प्रक्रिया पर नज़र डाला जाए। ज़्यादातर आई.टी. कम्पनियाँ केवल देश के बेहतरीन माने जाने वाले कॉलेजों में ही जाती है (जिन्हे रैंकों के आधार पर बाँटा गया है) । अब खुद सोचिये कि ऐसे कॉलेजों में पढ़ने वाले छात्र कौन से होते है? केवल वहीं विद्यार्थी कैम्पस प्लेसमेंट में हिस्सा ले सकते हैं जो कम्पनियों द्वारा निर्धारित की हुई न्यूनतम मानक (साधारणतः कोर्स के दौरान 70 फीसदी अंक) को पूरा कर पाते है। यह शर्त निम्न जाति, ग्रामीण एवं कामकाजी परिवारों के छात्रों को बाहर कर देती है क्योंकि उनकी शिक्षा ज़्यादातर सरकारी या फिर देसी स्कूलों में होती है। और इन स्कूलों में शिक्षा का स्तर कैसा होता है, इसे बताने की तो कोई आवश्यकता नहीं हैं। आम परिवारों के छात्रों के पास इतने आर्थिक साधन ही नहीं होते है कि वे "अच्छे" कहे जाने वाले स्कूलों में दाखिला ले पाएँ और महँगी फीसें जमा करवा पाएँ। नतीज़तन, होता यह है कि वे अच्छे अंक ला पाने में असमर्थ रहते हैं। खैर, इन सबके बावजूद जो थोड़े-बहुत छात्र किसी तरह से कॉलजों में दाखिले के बाद अच्छे अंक ला पाते हैं, और प्लेसमेंट प्रक्रिया के पहले पायदान पर क़दम रख देते हैं, उनकी छँटनी तो सामूहिक चर्चा (ग्रुप डिस्कशन) और इण्टरव्यू के दौरान हो जाती है। सामूहिक चर्चा से कम्पनियाँ इस बात का अन्दाज़ा लगाती है कि आपकी संप्रेषण क्षमता (कम्यूनिकेशन स्किल्स) कितनी बेहतर है, कि आपका व्यक्तित्व उनकी कम्पनी की "संस्कृति" में जगह बनाने लायक है या नहीं। इसके पश्चात् इण्टरव्यू की प्रक्रिया को चरणों में बाँटा गया है—एक तकनीकी (टेक्निकल) इण्टरव्यू और दूसरा एच.आर. (ह्यूमन रिसोर्स) इण्टरव्यू। एच.आर. इण्टरव्यू में यह देखा जाता है कि आपकी अंग्रेजी पर पकड़ कैसी है, और गलती से अगर अंग्रेजी बोल पाने में आपको थोड़ी दिक्कत का सामना करना पड़ता है तो समझ लीजिए कि इन कम्पनियों में आपके लिए कोई जगह नहीं है क्योंकि आपका अंग्रेजी न बोल पाना कम्पनी के लिए "अपमान" का कारण बन सकता है। जाहिरा तौर पर अपनी पिछड़ी और गरीब पृष्ठभूमि की वजह से छात्रों का थोड़ा-सा हिस्सा जो किसी तरह से अपनी पैठ बनानी की कोशिश में लगा रहता है, वह भी पीछे धकेल दिया जाता है।

कभी-कभी निश्चित तौर पर कई ऐसे अपवाद भी होते हैं जो अपनी गरीब पृष्ठभूमि के बावजूद उच्च शिक्षा संस्थानों तक अपनी पहुँच बना पाते हैं, पर इन अपवादों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है। गौरतलब बात यह है कि नौजवानों का केवल 7 प्रतिशत हिस्सा ही उच्च शिक्षा पाने की हैसियत रखता है। इनमें से केवल 0.1 प्रतिशत या 0.2 लोग ऐसे है जो सूचना प्रोद्योगिकी के क्षेत्र में रोज़गार पाते हैं और रोज़गार पाने वाली इतनी छोटी आबादी के बूते ज्ञान अर्थव्यवस्था में आ रही तेज़ी की बड़ी-बड़ी हवाई बातें की जा रही है।

असल में ज़मीनी हकीकत तो यह है कि इस व्यवस्था का मकसद सबको रोज़गार देना है ही नहीं। इसलिए शिक्षा को लगातार महँगा किया जा रहा है ताकि एक व्यापक हिस्से को पहले ही कॉलेजों में आने से रोका जाए। यूँ तो अर्थव्यवस्था के बढ़ते वृद्धि दर का भोंपू लगातार बजाया जा रहा है पर अब तो सरकार भी बड़ी बेशर्मी से यह कहती है कि जो विकास हो रहा है वह "रोज़गारविहीन विकास" है। अब यह सरकार की ज़िम्मेदारी नहीं है कि वह सबको रोज़गार मुहैया कराये। इसलिए जल्द से जल्द इस इस बात को समझने की ज़रूरत है कि उच्च शिक्षा संस्थानों में दाखिला हो पाने के बावजूद आम घरों के लड़के-लड़कियों को रोज़गार मिलने की गारण्टी नहीं है। क्योंकि ये रोज़गार के अवसर उस "कुलीन" मध्यमवर्ग के लिए है जिनके पास पैसे की कोई कमी नहीं है। वैसे भी पूँजीवादी व्यवस्था में तो हर चीज़ माल की तरह बेची जाती है, इसलिए शिक्षा भी माल का रूप अपना लेती है—यानी जिसकी औकात हो, वो आकर खरीदे उसे! और जो खरीद नहीं सकता वह ज़िन्दगी भर सड़कों पर चप्पलें फटकाता फिरे! इसलिए साधारण परिवेश से आए छात्र जो सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अपना सुरक्षित भविष्य तलाश रहे हैं, उनके लिए ज़रूरी है कि इस क्षेत्र में बढ़ते रोज़गारों का जो धूम्रावरण खड़ा किया गया है, उसे हटाकर सच्चाई पहचानने की कोशिश करे।

विशेष लेख

हिन्दी साहित्य में कहाँ है आज के मज़दूरों का जीवन?

● कात्यायनी

इस बात पर काफ़ी चर्चे होते रहे हैं कि हमारे समाज में समकालीन स्तरीय साहित्य का पाठक वर्ग काफ़ी सिमट गया है। आज भी हिन्दी में सबसे अधिक प्रेमचन्द पढ़े जाते हैं। कामतानाथ, रवीन्द्र कालिया, मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा, अलका सरावगी, संजीव, शिवमूर्ति, उदय प्रकाश आदि के चर्चित उपन्यासों के पाठक वर्ग का दायरा भी काफ़ी छोटा है। हर सामाजिक-सांस्कृतिक समस्या की तरह इस समस्या के भी कई कारण हैं। किताबों की ऊँची क़ीमतें, लाइब्रेरी-सप्लाई करके अंधाधुंध मुनाफ़ा कमाने की प्रकाशकों की अन्धी हवस के चलते आम लोगों तक पुस्तकों को पहुँचाने वाले किसी प्रभावी तंत्र का अभाव, इलेक्ट्रानिक मीडिया के प्रभाव के कारण आम पढ़े-लिखे लोगों की सांस्कृतिक अभिरुचि में आई गिरावट आदि को इस समस्या के कुछ स्थूल कारणों के रूप में देखा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त कुछ बुनियादी सामाजिक ऐतिहासिक कारण भी हैं। हमारे समाज के तीव्र पूँजीवादीकरण ने एक ऐसी मध्यवर्गीय आबादी की भारी संख्या पैदा की है जो बाज़ार-संस्कृति का अन्ध-उपासक और गैर-जनतांत्रिक प्रवृत्ति का है। कला-साहित्य-संस्कृति से न तो इसका कुछ लेना-देना है और न ही आम जनता के जीवन से। व्यापार-प्रबन्धन, बचत, निवेश और मौज-मस्ती आदि की इसकी अपनी दुनिया है जो शेष समाज से एकदम कटी हुई है। एक कारण यह भी है कि तमाम भौतिक प्रगति के बावजूद, हमारे समाज के आम लोगों की आँखों में आज वे भविष्य-स्वप्न नहीं हैं जो सामाजिक जीवन को आवेगमय बनाते हैं। यह समय गतिरोध और विपर्यय का समय है। सामाजिक मुक्ति की कोई नयी परियोजना अभी जीवन में हलचल पैदा करने वाली भौतिक शक्ति नहीं बन पायी है। इतिहास के ऐसे कालखण्डों में स्तरीय जनपरक साहित्य का दायरा प्रायः काफ़ी संकुचित हो जाया करता है। लेकिन इन कारणों से जुड़ा हुआ एक और कारण है जिसे हम यहाँ विचारार्थ अपने उन सहयात्री साहित्यकारों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं जो साहित्य में कुलीनतावाद का विरोध करते हैं।

पिछली लगभग आधी शताब्दी के दौरान भारतीय समाज के विशिष्ट किस्म के पूँजीवादी रूपान्तरण की जो आम दिशा और गतिकी (डाइनॉमिक्स) रही है और उसने सामाजिक संरचना तथा आम लोगों के जीवन पर जो प्रभाव छोड़े हैं, उनकी इन्दराजी हिन्दी के कथा-साहित्य में न के बराबर ही हुई है। इसके केवल एक प्रतिनिधि-उदाहरण से हम अपनी बात स्पष्ट करना चाहेंगे।

राष्ट्रीय नमूना सर्वे संगठन के 1999-2000 में किये गये सर्वेक्षण के मुताबिक देश में कुछ 39.7 करोड़ कामगार हैं जिनमें से 36.9 करोड़ लोग असंगठित क्षेत्र में अस्थायी, दिहाड़ी या ठेका मज़दूर के रूप में काम कर रहे हैं जिन्हें सुनिश्चित वेतन, मज़दूरी, स्वास्थ्य, पेंशन और भविष्यनिधि जैसी कोई सामाजिक सुरक्षा नहीं हासिल है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक इन 36.9 करोड़ असंगठित मज़दूरों में से 23.9 करोड़ कृषि क्षेत्र में, 1.7 करोड़ भवन निर्माण में और शेष कारख़ानों, खदानों और सेवा-क्षेत्र में काम करते हैं। ग़ौरतलब है कि ये आँकड़े आठ वर्ष पुराने हैं। इस दौरान किसान आबादी के सर्वहाराकरण और विस्थापन की प्रक्रिया पिछले दशक की तुलना में अधिक रही है। राष्ट्रीय नमूना सर्वे संगठन के 2004-2005 के 61वें चक्र की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2000 से 2005 के बीच उद्योगों में कार्यरत पुरुष मज़दूरों की संख्या में 1.6 प्रतिशत और स्त्री मज़दूरों की संख्या में 23.6 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। शहरों के अनौपचारिक क्षेत्र की औद्योगिक इकाइयों में कार्यरत मज़दूरों की संख्या इस दौरान 6 करोड़ 47 लाख से बढ़कर 8 करोड़ 44 लाख हो गयी। इसी दौरान कृषि और अन्य क्षेत्रों में कार्यरत सर्वहाराओं की संख्या में भी भारी वृद्धि हुई है और गाँवों से शहरों की ओर विस्थापन की रफ़्तार भी तेज़ हुई है। अनुमान लगाया जा सकता है कि उद्योगों-खदानों-भवननिर्माण और सेवा क्षेत्र में कार्यरत शहरी मज़दूरों की आबादी इस समय 20 करोड़ के आसपास होगी और ग्रामीण मज़दूरों की संख्या भी 30-32 करोड़ से कम न होगी। इस सर्वहारा आबादी के साथ यदि अर्द्धसर्वहारा आबादी (लघु एवं सीमान्त किसान, रेहड़ी-खोमचे और छोटे-मोटे स्वरोजगार वाली शहरी आबादी) को भी जोड़ दें तो यह आबादी किसी भी तरह से साठ करोड़ से कम न होगी। यानी देश की कुल आबादी की आधी से भी अधिक सिर्फ़ सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी है। यहाँ हम परेशान हाल निम्न मध्यवर्गीय आबादी को नहीं जोड़ रहे हैं।

हम विनम्रता, चिन्ता और सरोकार के साथ साहित्यक्षेत्र के सुधी सर्जकों का ध्यान इस नंगी-कड़वी सच्चाई की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं कि उस मेहनतकश आबादी की, जो देश की कुल आबादी के पचास प्रतिशत से भी अधिक हो चुकी है, ज़िन्दगी

की जद्दोजहद समकालीन हिन्दी साहित्य की दुनिया में लगभग अनुपस्थित है। आप याद करके ऐसे कितने उपन्यास या कहानियाँ उँगली पर गिना सकते हैं जिनकी कथाभूमि कोई औद्योगिक क्षेत्र की मज़दूर बस्ती और कारख़ानों के इर्दगिर्द तैयार की गयी हो, जिनमें हर वर्ष अपनी जगह-जमीन से उजड़ने, विस्थापित होकर शहरों में आने और आधुनिक उत्पादन-तकनोलॉजी में आने वाले कारख़ानों में दिहाड़ी या ठेका मज़दूर के रूप में बारह-बारह, चौदह-चौदह घण्टे खटने वाले नये भारतीय सर्वहारा के जीवन की तफ़सीलों की प्रामाणिक ढंग से इन्दराजी की गयी हो। और इनके पीछे की कारक-प्रेरक शक्ति के रूप में काम करने वाली सामाजिक-आर्थिक संरचना की गति को अनावृत्त करने की कोशिश की गयी हो? सच्चाई यह है कि जो मज़दूर वर्ग आज संख्यात्मक दृष्टि से भी भारतीय समाज का बहुसंख्यक हिस्सा बन चुका है, उसका जीवन और परिवेश जनवादी और प्रगतिशील साहित्य की चौहद्दी में भी लगभग अनुपस्थित है। मज़दूर वर्ग और समाजवाद के प्रति रस्मी, दिखावटी या पाखण्डपूर्ण प्रतिबद्धता का भला इससे अधिक जीता-जागता प्रमाण और क्या हो सकता है?

हिन्दी का जो प्रगतिशील, वामपंथी माना जाने वाला साहित्य है, मोटे तौर पर उसकी विषयवस्तु को कुछ श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। समाज-विकास की दिशा एवं गतिकी की समझ और भविष्य-स्वप्नों के अभाव के कारण, कुछ साहित्यकार ऐतिहासिक विषयवस्तु केन्द्रित उपन्यासों, आत्मकथाओं एवं संस्मरणों के जरिए अतीत को अपना अन्तिम शरण्य बना रहे हैं। वे आज की ज़मीन पर खड़े होकर इतिहास को देखने और वर्तमान की समस्याओं के लिए आवश्यक दिशा-दृष्टि हासिल करके भविष्य-संधान करने के बजाय नास्टैल्जिया में जी रहे हैं। कुछ मध्यवर्गीय जीवन की आत्मिक वंचनाओं-विडम्बनाओं-त्रासदियों के यथातथ्य ब्यौरे प्रस्तुत कर रहे हैं या कोई फंतासीनुमा उत्तर-आधुनिक आख्यान रच रहे हैं। कुछ नयी आंचलिकता का 'ट्रेण्ड' गढ़कर अतीत की ज़मीन पर खड़े होकर पूँजीवादी विपदाओं का विरोध-पक्ष खड़ा कर रहे हैं। कुछ समाज-निरपेक्ष, स्त्री मुक्ति की उत्तर आधुनिक, पॉपुलिस्ट किस्सागोई कर रहे हैं और कुछ वर्जनाओं से मुक्ति के नाम पर यौन-रस के चटखारे ले रहे हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो समाजवाद और वामपंथी आन्दोलन की पराजय की दार्शनिक-ऐतिहासिक समझ के अभाव में, अपनी कथाकृतियों में या तो गलत कारणों की निशानदेही कर रहे हैं या फिर पश्चातापी मुद्रा में रो-सिसक रहे हैं या फिर "बाज़ार-समाजवादी" मुद्रा अपना चुके हैं। कुल मिलाकर ऐसा ही कुछ वर्णक्रम बनता है हिन्दी के वामपंथी कथा-साहित्य का।

इसके कारण क्या हैं? इसके लिए हिन्दी के साहित्यकारों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति भी एक कारण है। स्थापित और चर्चित साहित्यकारों का बड़ा हिस्सा वस्तुतः भारतीय समाज के 'विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यक उपभोक्ता वर्ग (प्रिविलेज्ड माइनॉरिटी कंज्यूमर क्लास) में शामिल हो चुका है। वह विश्वविद्यालयों-कालेजों में पढ़ाता है, बैंकिंग, पुलिस, नागरिक सेवा, आयकर, बिक्रीकर जैसे विभागों का उच्चाधिकारी है, किसी अखबार या इलेक्ट्रानिक मीडिया में काम करता है या स्थापित फ्रीलांसर है, या फिर डॉक्टर या इंजीनियर है। ऐसा होना कोई गुनाह नहीं है। हम यहाँ केवल आर्थिक स्थिति की चर्चा कर रहे हैं। लेखकों-कवियों की बहुत छोटी संख्या है जो क्लर्क है या बेरोजगार है या चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी है। यह आबादी ज्यादातर महानगरों में रहती है, यह ग़लत नहीं है। पर दुख और अफसोस की बात यह है कि महानगरों की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी के रोजमर्रे के जीवन से वह इतनी दूर और इतनी कटी हुई रहती है कि मज़दूर उसके लिए 'अदृश्यप्राय' होते हैं। अधिकांश लेखकों के पास सर्वसुविधासम्पन्न अपने फ्लैट या बंगले हैं, गाड़ी है, बैंक बैलेंस और शेयर में निवेश है। उनका सामाजिक जीवन इतना संकुचित हो गया है कि वे मानवाधिकार पर आयोजित किसी प्रदर्शन में तो दूर, कॉफी हाउस भी कम जाते हैं। साहित्यकारों के विरोध-प्रदर्शनों का चरित्र भी अब काफ़ी कुलीन रस्मी और फैशनेबुल हो गया है। ऐसे लोगों से यह उम्मीद की ही नहीं जा सकती कि वे कम से कम अपनी छुट्टियों का कुछ समय भी मज़दूरों की बस्तियों में बितायें। राजनीतिक काम वे न करें, लेकिन आम मज़दूर के जीवन को, उत्पादन की प्रक्रिया और भूमण्डलीकरण के दौर में उसमें आये बदलावों को जानने-समझने के लिए तो उन्हें ऐसा करना ही चाहिए। इसके लिए ज़रूरी नहीं कि वे राजनीतिक कर्मी हों या किसी संगठन से जुड़े हों। लेकिन सच्चाई यह है कि उनका जीवन इसकी इजाज़त नहीं देता। वे उच्च मध्यवर्गीय जीवन के सर्वव्याप्त अलगाव और उपभोक्ता संस्कृति के सुखभोगवाद शिकार हैं। उनके पास कुछ अतीत के यादों की पूँजी है, ट्रेनों-बसों की खिड़कियों से देखे गये आम जीवन के दृश्यों का अनुभव है, अखबारों-पत्रिकाओं से किया गया कुछ अध्ययन है और कुछ चौंक-चमत्कार के नुस्खे हैं। बस इसी पूँजी से सृजन-कर्म का सारा क्रिया-व्यापार चल रहा है। वैसे हिन्दी के अधिकांश लेखक अर्थशास्त्र, दर्शन और इतिहास के अध्ययन की भी कोई जरूरत नहीं समझते। वे सिर्फ़ साहित्य का अध्ययन करते हैं। इसीलिए वे उत्पादन-प्रणाली में बदलाव के चलते सामाजिक जीवन में होने वाले संक्रमण को किताबी ढंग से भी नहीं समझ पा रहे हैं। कभी वे किसानी की दुर्दशा पर नरोदवादी ढंग से विधवा-विलाप करते हुए अतीतोन्मुख-अवैज्ञानिक नास्टैल्जिया के शिकार हो जाते हैं तो कभी उपभोक्ता संस्कृति का विरोध करते हुए गाँधीवादी यूटोपिया के शरणागत हो जाते हैं।

यूरोप में जब औद्योगिक क्रान्ति हो रही थी तो वहाँ यथार्थवाद की एक धारा के रूप में औद्योगिक उपन्यासों का चलन ही चल पड़ा। कई उपन्यासकारों ने मज़दूरों के बीच और कारख़ानों में जाकर लम्बा समय बिताया और पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली तथा

मज़दूर वर्ग के जीवन के ऐसे प्रामाणिक चित्र उकेरे कि उनकी साहित्यिक कृतियाँ आर्थिक इतिहास के दस्तावेज प्रतीत होती हैं। औद्योगिक परिवेश और मज़दूरों के जीवन पर ऐसी कृतियाँ रचने की शुरुआत ब्रिटेन में चार्ल्स डिकेंस और एलिज़ाबेथ गैस्केल ने की और फिर यह परम्परा लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक जारी रही। फ्रांस में एमिल ज़ोला ने मज़दूरों पर केन्द्रित अपना पहला उपन्यास 'द ड्रामशाप' लिखने के लिए लम्बा समय औद्योगिक मज़दूरों के बीच बिताया। कोयला खदान के मज़दूरों पर केन्द्रित अपने विश्वविख्यात कृति 'जर्मिनल' की रचना से पहले ज़ोला ने लम्बा समय एक खदान-क्षेत्र के मज़दूरों के बीच बिताया तथा भूमिगत कोयला खदान में उत्खनन की पूरी प्रक्रिया, उसमें लगे मज़दूरों के जीवन, उनके आन्दोलन और आन्दोलन के दौरान उनके जीवन और चेतना में होने वाले परिवर्तनों का गहन अध्ययन किया। नतीज़तन, 'जर्मिनल' उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन का एक लघु प्रतिरूप बन गया। अमेरिकी उपन्यासकार अप्टन सिंक्लेयर ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'जंगल' में औद्योगिक पूँजीवाद में मेहतनक़श स्त्रियों-पुरुषों की अमानवीय स्थितियों का जींवत दस्तावेज प्रस्तुत किया। यह उपन्यास लिखने से पहले उन्होंने शिकागो के स्टाकयार्डों में काम करने वाले उन स्त्रियों-पुरुषों के बीच लम्बा समय बिताया जो उन मूक पशुओं जैसे ही हो गये थे जिन्हें वे कसाईबाड़े में जिबह किया करते थे। महत्वपूर्ण यह है कि मज़दूरों के जीवन और औद्योगिक समाज का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करने के लिए वहाँ जाकर रहने वाले उन्नीसवीं शताब्दी के ज्यादातर लेखक तो मज़दूर क्रान्ति या समाजवाद के पक्षधर भी नहीं थे। हाँ वे प्रामाणिक यर्थाथ-चित्रण के प्रबल आग्रही थे।

एमिल ज़ोला की शवयात्रा जब पेरिस की सड़कों से गुजर रही थी तो किनारे खड़े खदान मज़दूरों की भारी भीड़ 'जर्मिनल! जर्मिनल!' चिल्ला रही थी। आज भी, हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि किसी साहित्यकार की रचना में आम मेहनतक़शों के जीवन का प्रामाणिक चित्र होगा, तो वह उनके दिलों में अवश्य ही अपना स्थान सुरक्षित कर लेगा। हिन्दी का औसत वामपंथी, प्रगतिशील लेखक यह नहीं जानता कि पूँजी किस प्रकार किसानों के निचले संस्तरों को अपनी जगह-ज़मीन से उजाड़कर सर्वहारा की कतारों में ढकेल रही है? वह नहीं जानता कि भूमण्डलीकरण के दौर में श्रम के सर्वव्यापी ठेकाकरण-दिहाड़ीकरण के मूल कारण प्रक्रिया और परिणाम क्या है? वह नहीं जानता कि आज के कारख़ानों के उत्पादन की प्रकृति कैसी है और लगभग पन्द्रह करोड़ औद्योगिक मज़दूरों का जीवन कैसा है? वह सिर्फ कल्पना ही कर सकता है कि रोजाना बीस रुपये की कमाई से देश की 77 करोड़ आबादी कैसे जी पाती है?

यह एक प्रमुख, बल्कि हमारी दृष्टि में तो सबसे बड़ा कारण है कि हिन्दी के जनपक्षधर और प्रगतिशील माने जाने वाले साहित्य का भी आम पाठक वर्ग अत्यन्त छोटा है। साहित्य के घटते पाठकों की समस्या पर तमाम सैद्धान्तिक विश्लेषणों की जुगाली करने से पहले सबसे ज़रूरी तो यही लगता है कि हम अपनी जीवन-शैली की जन-विमुखता के बारे में गहराई और ईमानदारी के साथ सोचें-विचारें। फैशनेबुल, अकर्मण्य वामपंथ से घिनौनी-बदबूदार दूसरी कोई चीज़ नहीं होती। आज मज़दूरों की जो युवा पीढ़ी कारख़ानों में आ रही है, खदानों, भवन-निर्माण, गोदामों, बन्दरगाहों पर काम कर रही है, उनमें से अधिकांश पढ़े-लिखे हैं। कुछ तो बी.ए. पास तक होते हैं। यदि लेखक की रचना में उनकी ज़िन्दगी की परेशानियाँ और संघर्षों की सही-सच्ची इन्दराजी होगी तो उन मेहनतक़शों के बीच से साहित्य का नया पाठक वर्ग पैदा होगा। यह आज थोड़ी विस्मयकारी बात लग सकती है, लेकिन दरअसल है नहीं।

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश ■ जनचेतना, जाफरा बाज़ार, गोरखपुर ■ जनचेतना, 16/6, वाद्यम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद ■ विजय इन्फार्मेशन सेण्टर, कचहरी बस स्टेशन, गोरखपुर ■ जनचेतना स्टाल, कॉफी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8.30 तक) ■ प्रोग्रेसिव बुक सेण्टर, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बी.एच.यू. परिसर, वाराणसी ■ जनचेतना ठेला, चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8) ■ शहीद पुस्तकालय, द्वारा डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ **दिल्ली** ■ अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर ■ शिवानी कौल, रूम न. -307/2, मेघदूत हॉस्टल, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय ■ प्रसेन, रूम न.-3, ए-67, क्रिश्चियन कॉलोनी, पटेल चेस्ट, दि.वि.वि., ■ सत्यम, सी-74, दिव्यज्योति अपार्टमेंट, सेक्टर-19, रोहिणी ■ गीता बुक सेंटर, जे.एन.यू. ■ बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मंडी हाउस ■ शिवार्थ, रूम न.-86, हिन्दू कॉलेज हॉस्टल, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7 **बिहार** ■ पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, पटना ■ रामनारायण राय, द्वारा राघव पटेल कपड़े की दुकान, साहेबगंज, पोस्ट करनौल, जिला-मुजफ्फरपुर **बंगाल** ■ बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कोलकाता ■ जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो. करेन, जि. जलपाईगुड़ी ■ राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर, प्रधाननगर, सिलीगुड़ी **मध्य प्रदेश** ■ चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, जगदलपुर, बस्तर **महाराष्ट्र** ■ पीपुल्स बुक हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, मुम्बई **पंजाब** ■ सुखविन्दर, 154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, फेज़-3, पखोवाल रोड, लुधियाना

राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना

एक विशालकाय सरकारी धोखे का सच!

● शिवानी

राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना इन दिनों फिर सुर्ख़ियों में हैं। कारण, अब इसे जल्द ही देश भर में लागू करने की तैयारी है जी हाँ, इसे पूरे देश में लागू तो 2011 तक किया जाना था लेकिन अब क्या कहें, काँग्रेस और इस देश के "भावी" युवा नेता राहुल गाँधी इस योजना को जल्द से जल्द लागू करने के लिए इतने चिन्तित और व्यग्र नज़र आए कि अब यह योजना इसी साल पूरे देश में लागू की जायेगी!

संप्रग सरकार तो साल 2005 से ही इसे अपनी उपलब्धि बतला कर फूली नहीं समा रही थी और तथाकथित वामपंथी पार्टियाँ भी इस योजना को "ऐतिहासिक" घोषित करते हुए कुछ इस अन्दाज़ में नज़र आईं मानों कह रहीं हों कि हमारे दबाव के कारण ही यह संभव हो पाया है कि सरकार विधेयक पेश करने के लिए मजबूर हुई। यही नहीं, तमाम न्यूज़ चैनलों और अख़बारों के तरह-तरह के कलमघसीट विश्लेषक और विशेषज्ञ इस योजना को लेकर अति आशावान नज़र आए और इसे "ऐतिहासिक" साबित करने में तन,मन, और *धन* से जुट गए। अब जब रोज़गार गारण्टी के नाम पर होनी वाली इस "महान अभूतपूर्व" सरकारी कवायद का चारों तरफ ढिंढोरा पीटा जा रहा है, इसको लेकर इतना हो हल्ला मचाया जा रहा है तो यह लाज़िमी है कि एक सरसरी निगाह इस पर भी दौड़ाई जाए कि आखिर यह रोज़गार गारण्टी योजना किसे और कैसे गारण्टी देती है।

यू.पी.ए. सरकार दावा करती है कि राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना के द्वारा वह ग्रामीण बेरोज़गारों की एक बहुत बड़ी आबादी को रोज़गार मुहैया करा देगी। इस योजना के तहत हर ग्रामीण परिवार के एक अकुशल सदस्य को 50 रुपये प्रतिदिन की मज़दूरी के हिसाब से साल में 100 दिन रोज़गार देने की बात की गई है। संसाधनों की कमी का रोना रोते हुए सरकार ने इस योजना को सारे देश में लागू न करते हुए शुरू में केवल 200 ज़िलों में इसे लागू किया। इस योजना के तहत काम पाने की चाह रखने वाले व्यक्तियों को आवेदन भरना होता है। आवेदन के पन्द्रह दिनों के भीतर रोज़गार न मिल पाने की स्थिति में "क्षमा" माँगते हुए बेरोज़गारी भत्ता देने का प्रावधान भी है। इस योजना के अन्तर्गत जिन 200 ग़रीब जिलों को लागू करने के लिए चिन्हित किया गया, उनके लिए 11,300 करोड़ रुपए का मद निर्धारित किया गया था।

कुल मिलाकर यही है वह रोज़गार गारण्टी योजना जिसे 'ऐतिहासिक' बताया जा रहा था और जिसके लिए अभी भी इतना शोर मचाया जा रहा है, साल भर में महज़ 100 दिन का रोज़गार वह भी मात्र 50 रुपए की मज़दूरी पर! लेकिन साल के बाकी 265 दिन वह सौ दिन का (कहना चाहिए) ठेका मज़दूर और उसका परिवार क्या करेगा, क्या ख़ाकर ज़िन्दा रहेगा? ख़ैर, एक तरफ जहाँ सरकार इस पहलू पर आश्चर्यचकित ढ़ंग से चुप्पी साधे हुए है, वहीं दूसरी ओर इस योजना के हिमायती यह कहते हुए घूम रहे हैं कि चलो कुछ लोगों को कुछ दिन के लिए ही सही कुछ तो मिल ही रहा है। लेकिन मनमोहन सिंह जी आपका यह "कुछ-कुछ" का सिद्धान्त तो वाकई में कुछ भी नहीं कर पा रहा है! बहरहाल, अगर मान भी लिया जाये कि योजना द्वारा निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी की दर से हर ग्रामीण परिवार के एक अकुशल बोरोज़गार को साल में 100 दिन का रोज़गार मिल भी जाता है, जिसे अब तक के आँकड़ों और अनुभव असम्भव साबित कर चुके हैं, तो भी यह राशि औसतन एक महीने में महज़ 415 रुपए ही होगी। इस राशि में तो एक व्यक्ति को महीने भरी भरपेट खाना भी नसीब नहीं हो सकता। शिक्षा, चिकित्सा पर होने वाले ख़र्च को तो भूल ही जाइये। रोज़गार गारण्टी के नाम पर यह कितना बड़ा सरकारी छल है इसका अन्दाज़ा तो इसी बात से लगाया जा सकता है कि विधेयक में परिवार की परिभाषा स्पष्ट नहीं की गई है। अधिकांश गाँवों में अभी भी संयुक्त परिवार के ढाँचे मौजूद हैं। इसके चलते होगा यह कि संयुक्त परिवार को ही परिवार का पैमाना मानकर एक व्यक्ति को रोज़गार के लिए चुना जाएगा। ख़ैर, यह सरकारी मेहरबानी तो अभी केवल गाँवों तक ही सीमित है, इसलिए तो इस योजना के ज़रिये फ़िलहाल वह ग्रामीण बेरोज़गारों पर ही इनायत फ़रमा रही है। शहरी बेरोज़गारों की करोड़ों की आबादी की ओर ताकने की ज़हमत सरकार अभी नहीं उठाना चाहती। दूसरी बात यह है, कि शहर में पूँजी के अतिलाभ को निगाह में रखकर विशेष आर्थिक क्षेत्रों आदि के नाम पर जो औद्योगिक विकास हो रहा है वह शहरी बेरोज़गारों की आबादी के एक छोटे हिस्से को खपा सकता है। लेकिन शहरी बेरोज़गारों की संख्या में इससे ज़्यादा बढ़ोत्तरी सरकार 'अफोर्ड' नहीं कर सकती। इसलिए बेहतर होगा कि गाँव से आने वाले सम्भावित प्रवासी को अर्ध-भुखमरी (यानी सौ दिन के रोज़गार के साथ) की हालत में अभी कुछ और समय तक गाँव में ही रोके रखा जाय। राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी

योजना का एक लक्ष्य यह भी है। यानी, एक तीर से कई शिकार करने का इरादा है।

कितनी कारगार राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना? एक निगाह आँकड़ों पर

यह ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना कितनी कारगर साबित हो रही है, यह तो इस लेख में आगे साफ़ हो जाएगा। लेकिन फ़िलहाल इस योजना के तहत आवण्टित की गई राशि पर एक नज़र डालने भर से सरकार द्वारा खड़े किये गये धूम्रावरण के पीछे की असलियत उजागर हो जाएगी। जैसा कि हमने पहले भी बताया कि शुरूआत में 200 जिलों में 11,300 करोड़ रुपए के मद के साथ इस योजना की शुरुआत की गई थी। गणना करने पर निकलता है कि प्रत्येक ज़िले के लिए औसतन 56.5 करोड़ रुपए की राशि की व्यवस्था की गयी थी। अभी पूरा साल भी नहीं गुज़रा था कि आवण्टित राशि तो 11,300 करोड़ से बढ़ाकर 12,000 करोड़ कर दी गयी लेकिन दूसरी तरफ जिलों की संख्या में 130 को अप्रत्याशित वृद्धि कर दी गयी। यानी अब प्रत्येक ज़िले की संख्या में 130 की अप्रत्याशित वृद्धि कर दी गयी। यानी अब प्रत्येक जिले को औसतन 56.5 करोड़ के स्थान पर 36.36 करोड़ ही मिल पायेगा। तालिका संख्या 1 से यह आँकड़े स्पष्ट हो जाएँगे। यही नहीं, प्राप्त जानकारी के मुताबिक इस योजना के पहले साल में 200 जिलों के 1.5 करोड़ से अधिक परिवारों ने पंजीकरण करवाया लेकिन उनमें से सिर्फ 140 लाख परिवारों को ही रोज़गार मुहैया कराया जा सका। मतलब 10 लाख से अधिक बेरोज़गार ही रहे और जिन परिवारों को इस योजना के तहत रोज़गार मिला उन्हें भी यह रोजगार साल में 100 दिन के लिए नहीं बल्कि औसतन 30 दिन के लिए ही मिला। ग्रामीण विकास मन्त्रालय के रिकॉर्ड स्वयं यह स्वीकारते है कि इस योजना के 33 प्रतिशत उद्देश्य ही प्राप्त किये जा सके हैं। बावजूद इसके, सरकार इसे पूरे देश में लागू करने के लिए विशेष रूप से उत्साहित है।

तालिका संख्या - 1

ज़िला	कुल आबण्टित राशि (करोड़ रुपये में)	प्रत्येक ज़िले को प्राप्त राशि (करोड़ रुपये में)
200	11,300	56.5
330	12,000	36.36

रोज़गार गारण्टी योजना के क्रियान्वयन के राज्य स्तर पर हुए सर्वेक्षणों के परिणाम तो इस योजना के निष्प्रभावी होने और इसे महज़ एक सरकारी झुनझुने से ज़्यादा कुछ न होने का और बेहतर तरीके से खुलासा करते हैं।

आइए पहले एक नज़र उड़ीसा पर डालें। अपनी ग़रीबी और भुखमरी के लिए कुख्यात उड़ीसा के कालाहाण्डी ज़िले के जूनागढ़ ब्लॉक के बलदेवमल गाँव में नयी रोज़गार गारण्टी योजना के लिए 350 जॉब कार्ड दिये गये। वहाँ की ग्राम पंचायत के मन्त्री ने गाँव में 450 मानव दिन के रोज़गार के अवसर प्रदान करने का दावा किया। यानी एक परिवार को सिर्फ सवा दिन का रोज़गार प्राप्त होगा! सम्पूर्ण उड़ीसा प्रान्त की कुल जनसंख्या 3 करोड़, 70 लाख में कुछ 32 लाख जॉब कार्ड जारी किये गये, जिनपर महज़ 450 लाख मानव दिन का रोज़गार दिया गया। यानी एक परिवार को 14 दिन का रोज़गार मिला। इसके अलावा उड़ीसा के गजपति ब्लाक के दो गाँवों में रोज़गार प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को जॉब कार्ड भी नहीं दिये गए। कोरापुट, रायगद, नवरंगपुर जिलों के कई गाँवों में काम करने के बावजूद कोई भुगतान नहीं हुआ। हाल ही में, उड़ीसा में पर्यावरण और खाद्य सुरक्षा केन्द्र, दिल्ली के परशुराम रे द्वारा किया गया अध्ययन कुछ नंगे तथ्यों को सामने लाया : ऐसे गाँवों की संख्या जिनमें पूरी और सही जॉब कार्ड प्रविष्टि हुई हो—100 में से 0; ऐसे गाँवों की संख्या जिन्होंने 100 दिन का रोजगार मुहैया कराया—100 में से 0; ऐसे गाँवों की संख्या जहाँ न तो कोई रोज़गार और न ही जॉब कार्ड दिए गए —100 में से 11; ऐसे गाँवों की संख्या जहाँ कोई रोज़गार नहीं दिया गया—100 में से 37!

तो यह है इस योजना की सच्चाई और वहीं उड़ीसा की सरकार बड़ी बेशर्मी से इस बात का दावा करती है कि उसने 700 करोड़ के मदों का व्यय किया, यानी, 82.39 प्रतिशत मदों का इस्तेमाल किया। यह इस्तेमाल ज़मीन पर तो कहीं नज़र नहीं आया, हाँ मगर योजना का कार्यान्यन करने वालों की जेबों में ज़रूर दिख गया! यह सिर्फ एक राज्य का सच नहीं है, यह योजना जिन भी गज्यों और जिलों में लागू हुई वहाँ इसमें ऐसी ही या इससे मिलती जुलती हक़ीकत का ही बयान किया।

महाराष्ट्र के चन्द्रपुर ज़िले में, 2005-06, और 2006-07 के दौरान कुल 51.35 करोड़ राशि आवण्टित की गई मगर खर्च केवल 8.04 करोड़ ही किया गया (मार्च 31, 2007 तक)। ग़ौरतलब है कि महाराष्ट्र में रोज़गार गारण्टी योजना पिछले 30 सालों से लागू है। एक सर्वेक्षण के अनुसार महाराष्ट्र के गाँवों की महज 1.9 प्रतिशत आबादी ने ही इस योजना के तहत अपना नाम दर्ज कराया। कारण साफ है नाममात्र के रोज़गार से पेट नहीं भरता! महाराष्ट्र के 30 सालों के अनुभव से साफ हो गया है कि ऐसी कोई भी योजना ग़रीबी और बेरोज़गारी रोकने में कारगर नहीं होगी।

तो फिर इस रोज़गार गारण्टी योजना का क्या मतलब है?

(पेज 25 पर जारी)

बाढ़ : प्राकृतिक या पूँजीवादी?

● आशा

अभी हाल ही में जुलाई और अगस्त के महीने में उत्तरी भारत का बहुत बड़ा हिस्सा बाढ़ की चपेट में आ गया था। इस बाढ़ ने पिछले तीन दशकों के सारे रिकार्डों को तोड़ दिया। बाढ़ का प्रकोप इतना भयानक था कि इसने भारत के पड़ोसी देश बांग्लादेश तक को प्रभावित किया। भारत में जो क्षेत्र सबसे ज़्यादा प्रभावित हुए वे थे–बिहार, बंगाल और असम। करीबन 3 करोड़ लोग इस बाढ़ की चपेट में आये जिसमें से अकेले बिहार ही में 1 करोड़ 90 लाख लोगों ने इस प्रकोप की मार सही। इस बाढ़ के बारे में पहले से ही अनुमान मिलने शुरू हो गये थे। 18 जुलाई को तटबाँधों के टूटने के साथ ही यह मालूम पड़ गया था कि इस बार बाढ़ का रूप अत्यन्त भयावह होगा। मगर पूरा मीडिया, अखबार और सरकार की चाकरी कर रहे तमाम भोंपू यह साबित करने में जुटे थे कि बाढ़ तो एक प्राकृतिक आपदा है, इसके बारे में पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। जबकि सच्चाई यह है कि बाढ़ के आने का पता तो बहुत पहले ही चल जाता है लेकिन फिर भी इसे रोकने या फिर बाढ़ के आने पर लोगों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाने का कोई इंतज़ाम नहीं किया जाता है। यह सब जानबूझकर सोची समझी रणनीति के तहत होता है क्योंकि बाढ़ की भी अपनी राजनीति व अर्थशास्त्र होता है।

हर साल बाढ़ के आने के साथ ही चुनावी पार्टियों द्वारा एक-दूसरे पर लांछन लगाने का सिलसिला शुरू हो जाता है। केन्द्र से अरबों रुपये की राशि प्रभावित राज्यों को भेजी जाती है। और यदि बाढ़ का पूर्वानुमान लगने पर इसको नियंत्रित कर जान-माल की हानि को रोका जायेगा तो यह अरबों रुपया कैसे इन नेताओं और मंत्रियों की जेब को गर्म कर पायेगा।

आज तो मानवता के पास बाढ़ आने पर उसे रोकने की समझ, विशेषज्ञता और तकनीक मौजूद है। आज विज्ञान ने तमाम ऐसे रास्ते खोज निकाले हैं जिसके जरिये बाढ़ जैसी आपदाओं से निजात मिल सकती है। तो फिर क्यों इन सबके बावजूद केवल इन्तज़ार किया जाता है कि हर साल बाढ़ आए, लोग डूबें, बेघर हों, बरबाद हों और फिर तमाम चुनावी घड़ियाल उस पर आँसू बहाएँ और "जनसेवा" के नाम पर जितनी मलाई बटोरना चाहें, उतनी बटोरें। निश्चित तौर पर बाढ़ को रोकने के लिए दीर्घकालिक योजनाएं बनाने की आवश्यकता होती है जिसमें तात्कालिक तौर पर मुनाफ़ा नहीं कमाया जा सकता है। पूँजीवादी तंत्र ऐसी परियोजनाओं में निवेश करना ज़रूरी नहीं समझता जिसका फ़ायदा देर में मिले। अगर वे इन आवश्यकताओं पर गौर करेंगे तो बाज़ार में पूँजीपतियों की गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा में पीछे छूट जायेंगे।

बाढ़ से जान और माल का नुकसान तो होता ही है पर बाढ़ जाने के बाद भी मौत का ताण्डव जारी रहता है। लाखों लोग बाढ़ से होने वाली बीमारियों की चपेट में भी आ जाते हैं। इसकें अतिरिक्त भारी पैमाने पर फसलें तबाह हो जाती हैं, हज़ारों की संख्या में ग़रीब किसान सड़कों पर आ जाते हैं। हममें से कई तो अज्ञानतावश यह मान लेते हैं कि बाढ़ तो प्रकृति का कहर है। भला इसमें बेचारी सरकार क्या कर सकती है लेकिन अगर बाढ़ के कारणों की जाँच करें तो समझ में आता है कि यह कोई प्राकृतिक आपदा नहीं है और इससे बचा जा सकता है।

हमारे देश में बाढ़ के कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में लगातार प्रकृति के साथ खिलवाड़ किया जाता है। मुनाफ़े की अन्धी हवस में पूँजीपति और ठेकादार लगातार जंगलों को साफ़ करते हैं। पेड़ों के कटने से गाद (सिल्ट) जमा होने की समस्या की शुरूआत होती है। दरअसल पहाड़ की ढलान पर लगे पेड़ बारिश होने पर मिट्टी को भारी मात्रा में बहकर नदियों में जाने से रोकते हैं। लेकिन पेड़ों की हो रही कटाई के कारण यह प्रक्रिया कमज़ोर पड़ती है और नदियों में सिल्ट जमा होने की गति तेज़ हो जाती है और बारिश के मौसम में बाढ़ की समस्या हो जाती है।

दूसरा कारण यह है कि बारिश हर जगह समान मात्रा में नहीं होती है। कहीं ज़्यादा तो कहीं कम। विज्ञान ने इस समस्या के समाधान का रास्ता बहुत पहले ही खोज निकाला। असमान जल प्रवाह और जलस्तरों का समरूपीकरण करने के लिए नहरों से नदियों को जोड़ने की योजना नेहरू के काल में ही बन गयी थी। इसे "गारलैण्ड कैनाल" योजना का नाम दिया गया था। इसके तहत देश की कई नदियों को नहरों से जोड़ा जाना था जिसके ज़रिये अन्य हिस्सों की नदियों में जल स्थानान्तरित हो जाता और इससे कुल मिलाकर जलस्तर उतना नहीं बढ़ता जिससे बाढ़ आ सके। इसके विपरीत जहाँ जल स्तर कम होता, वहाँ इस प्रक्रिया से सामान्य हो जाता। यानी न कहीं बाढ़ आती और न ही कहीं सूखा पड़ता।

इसके अलावा उत्तर व पूर्व भारत के अधिकांश हिस्सों में आने वाली बाढ़ की एक वजह नेपाल से आने वाली नदियाँ है जो नेपाल के पहाड़ों से बहुत सारी सिल्ट बहाकर भारत की नदियों में लाती है। इसके लिए 1954 में गठित गंगा आयोग ने 'जलकुण्डी योजना' के तहत नेपाल की नदियों से आने वाली सिल्ट को रोकने के पानी की भारी मात्रा को नेपाल में रोककर

(पेज 25 पर जारी)

एक विशालकाय सरकारी धोखे का सच!

(पेज 23 से जारी)

वास्तविकता यह है कि यह एक भ्रम का पर्दा है, एक धूम्रावरण है, इस व्यवस्था के कुरूप चेहरे को छिपाये रखने के लिए और इस पर इस देश के प्रधानमन्त्री श्रीमान "भोले-भाले" इसके ईमानदारी से क्रियान्वयन पर, प्रशासनिक स्तर पर होने वाली गलतियो, ख़मियों, कमियो को दूर करने पर बल देते हैं। उनके मुताबिक ऐसे ही गरीबों की आर्थिक दशा में सुधार आएगा और ग़रीबी पर भी काफी हद तक नियंत्रण हो सकेगा (हँसिये मत! हमारे अतिसज्जन प्रधानमंत्री जी यह बात बहुत ही गम्भीरता से कह रहे है!)

मगर अब मनमोहन सिंह जी को कौन समझाए कि ऐसी कई योजनाएँ आईं और चली गई, जैसे मिड डे मील, अन्त्योदय योजना, अन्नपूर्णा आशा आदि, लेकिन इनमें से किसी भी योजना के उद्देश्य को पूरा नहीं किया जा सका है। सच तो यह है कि प्रधानमन्त्री महोदय को इस बाबत कुछ भी समझाने की आवश्यकता नहीं है। इस व्यवस्था के संकट ज्यों के त्यों बने रहेंगे, बल्कि और भी बदतर होते जाएँगे। दरअसल एक पूँजीवादी व्यवस्था के तहत बेरोज़गारी दूर की ही नहीं जा सकती। यह एक शेखचिल्ली के सपने से ज्यादा कुछ नहीं है। इस व्यवस्था के पैरोकार ख़ुद भी नहीं चाहेंगे कि बेरोज़गारी दूर हो। बेरोजगारों की एक रिज़र्व फौज की जरूरत तो पूँजीवाद को हमेशा ही रहती है जो रोज़गारशुदा मज़दूरों की मोलभाव क्षमता को कम करने के लिए पूँजीपतियों द्वारा इस्तेमाल की जाती है। लेकिन जब बेरोज़गारी एक सीमा से अधिक बढ़ जाती है, महामारी का रूप धारण करने लगती है और सामाजिक अशान्ति का कारण बनने लगती है तब इस व्यवस्था के दूरदर्शी पहरेदार कुछ ऐसी योजनाओं द्वारा, जो 'सेफ्टी वॉल्व' की भूमिका अदा करती हैं, देश की बेरोज़गार आबादी के गुस्से के ज्वालामुखी को फटने से रोकने के लिए पानी की छींटों का छिड़काव करते है। जैसे "मिश्रित अर्थव्यवस्था" (राजकीय पूँजीवाद और खुले बाज़ार वाले पूँजीवाद की मिली जुली अर्थव्यवस्था) के दौर में पूँजीवादी विकास की बुनियाद तैयार करने के लिए नेहरू ने "समाजवाद" का गीत गया था, वैसे ही भूमण्डलीकरण के "रोज़गारविहीन विकास" के इस नए दौर में रोज़गार गारण्टी जैसा कल्याणकारी झुनझुना जनता को थमाकर इस ढाँचे के ख़िलाफ़ जनता के बढ़ते गुस्से को ठण्डा करने का प्रयास किया जा रहा है। लेकिन साफ़ है, ऐसी योजनाओं और प्लानों से होना-जाना कुछ नहीं है, फिर चाहे उन्हें पूरे देश में लागू करने की बात ही क्यों न हो। ऐसी हर योजना पूँजीवाद के अन्तकारी संकट को तब तक टालने का काम कर सकती है जब तक कि देश के क्रान्तिकारी युवा और मज़दूर इस ढाँचे को उखाड़ फेंकने के लिए एक क्रान्तिकारी पार्टी के तहत संगठित नहीं हो जाते।

बाढ़ : प्राकृतिक या पूँजीवादी?

(पेज 24 से जारी)

बाँधों पर जलविद्युत (हाइड्रो इलेक्ट्रिक) परियोजनाएँ लगाने का इरादा था। इस योजना से दोनों ही देशों (भारत और नेपाल) को फायदा होता। इस योजना पर करीबन 33 करोड़ का खर्च होने वाला था। पर सरकार ने इस योजना में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। आज अगर इस योजना को लागू करना हो तो कम से कम 150 करोड़ की लागत लगेगी, पर फिर भी यह खर्च बाढ़ से राहत के नाम पर किए जाने वाले खर्च से कहीं कम है। 1976 में गठित राष्ट्रीय बाढ़ आयोग (नेशनल फ्लड कमीशन) ने नदियों के तल से सिल्ट हटाने का सुझाव दिया था और साथ ही जलकुण्डी योजना को लागू करने का सुझाव भी दिया था। पर इसमें से किसी भी सुझाव पर गौर नहीं किया गया। ऐसा भी नहीं है कि अगर आज ऐसे आयोगों का गठन होता है तो परिवर्तन की कोई उम्मीद की जा सकती है। इस व्यवस्था के केन्द्र में मानव आवश्यकता नहीं बल्कि मुनाफ़ा है, इसी कारण ऐसी आपदाओं को रोकना तो दूर आपदाओं के बाद लाशों पर भी मुनाफ़ा कमाने की होड़ में बेशर्मी से जुट जाना ही इस व्यवस्था का काम है। आज अगर बाढ़ को रोकने के लिए सिल्ट को हटाने से लेकर, नदियों को आपस में जोड़ने और वृक्षारोपण के काम को पूरी योजनाबद्धता के साथ किया जाए तो करोड़ों हाथों को रोज़गार मिल पाएगा। यही नहीं नदियों के तल में जो सिल्ट जमा होती है वह काफी उपजाऊ होती है, जिससे ऊँचे-ऊँचे प्लेटफार्म बनाए जा सकते हैं जिस पर टाउनशिप और गाँव बसाए जा सकते है। लेकिन इस व्यवस्था में किसी भी आवश्यक काम में पूँजीपति या सरकार निवेश करने को तैयार नहीं होती। लाखों लोगों को बिलखने और बरबाद होने के लिए छोड़ दिया जाता है ताकि इस बरबादी से भी मुनाफ़ा कमाने का कोई भी मौका पूँजीपति या नेता न गँवाए। इसलिए बाढ़ कोई प्राकृतिक आपदा नहीं है बल्कि इसी मानवद्रोही व्यवस्था द्वारा निर्मित एक आपदा है और तब तक इससे निजात नहीं मिल सकता है जब तक कि यह व्यवस्था बनी रहेगी।

अमेरिका के जनतंत्र-प्रेम की हक़ीक़त

● कुणाल

विश्व भर में अपने आप को लोकतंत्र का रखवाला बताने वाले और मानव अधिकारों की पहरेदारी का ढोंग रचाने वाले अमेरिका का असली चेहरा अब उभर कर सामने आने लगा है। आज दुनिया भर में अमेरिकी दादागीरी इतने नंगे रूप में सामने आ चुकी है कि 'अमेरिकी जनतंत्र' के चेहरे पर पड़े मानवता के नक़ाब को हटाने पर अब कुछ अमेरिकी बुद्धिजीवी व मीडिया भी मजबूर है। हालाँकि, उनका स्वर अमेरिकी ज़्यादतियों के लिए माफ़ी माँगने वाला ज़्यादा, और अमेरिकी साम्राज्यवाद की पुंसत्वपूर्ण ख़िलाफ़त करने वाला कम है।

इराक में तैनात अमेरिकी सेना की 'बहादुरी' का विश्व भर में प्रचार करने व अमेरिकी सैनिकों के कठिन परिस्थितियों में 'गौरवशाली कर्मों' का ढिंढोरा पीटने वाले नौकरशाहों को तब गहरा झटका लगा जब पिछले दिनों 'द नेशन' नामक पत्रिका ने अमेरिकी सेना के कुछ उच्च अधिकारियों के इराक युद्ध के विषय पर इण्टरव्यू प्रकाशित किये। इसके जरिये न सिर्फ आँखे खोल देने वाले तथ्य सामने आये, बल्कि पूरी अमेरिकी व्यवस्था व इराक में अमेरिकी सेना द्वारा किये गये बर्बर व अमानवीय अत्याचारों का पूरा लेखा-जोखा खुल कर सामने आ गया।

एक अमेरिकी सैनिक के अनुसार यह रिपोर्ट कभी-कभार होने वाले अत्याचारों का वर्णन नहीं बल्कि पुरुषों, महलिाओं व बच्चों के साथ मानसिक व शारीरिक रूप से होने वाले रोज़ाना उत्पीड़नों की पूरी एक श्रृंखला का वर्णन है। यहाँ तक की सेना के कई अधिकारियों तक ने पूरे युद्ध को निरर्थक और अमानवीय माना है।

ग़ौर करने वाली बात यह है कि अमेरिकी सरकार के इन 'जनतंत्र-रक्षकों' ने मीडिया के आगे यह स्वीकार किया कि उन्होंने निर्दोष लोगों को मारने से लेकर महिलाओं और बच्चों के यौन शोषण तक सभी जुर्म किये हैं और इसके बाद भी यह खुले घूम सकते हैं। सैनिकों ने माना कि उन्होंने हज़ारों बार बेवजह ही निर्दोष लोगों के समूह पर गोलियाँ चलाने के बाद उनकी लाशों के साथ राईफलें फेंक दीं, जिससे ऐसा ज्ञात हो की ये लोग कोई अमेरिकी विरोधी प्रदर्शन करते या लड़ते हुए मारे गये। एक सैन्य अधिकारी के इस उक्ति पर ग़ौर करें, "हर अच्छा और अक्लमन्द सैनिक अपने साथ एक अतिरिक्त एके 47 राईफल लेकर चलता है। अगर वह किसी निश्शस्त्र व्यक्ति को मार देता है तो वह उस राईफल को वहाँ गिरा देता है।"

इस प्रकार का कत्लेआम व बर्बरता सिर्फ सड़कों तक ही सीमित नहीं है। इराक में तैनात अमेरीकी सेना का एक बड़ा हिस्सा बेकार है और उसका काम आम जनता को आंतकित करने व उनके घरों में घुस कर अपने वहशीपन का प्रदर्शन करने के सिवाय और कुछ नहीं है। मानवाधिकारों व 'जनतंत्र' के स्वयंघोषित संरक्षक अमेरिका के इस नक़ाब को उखाड़ फेंकने के लिए इतने तथ्य पर्याप्त हैं, इसलिए अब ज़रा तथ्यों के पीछे झांक कर देखा जाये।

अमेरिका द्वारा लम्बे समय से इराक पर थोपे गये युद्ध का प्रमुख कारण इराक का तेल भण्डार और इराक के पड़ोसी देशों से प्राकृतिक गैस के भण्डारों को हड़पना है। अमेरिका ऐसा न सिर्फ ऊर्जा के संसाधनों को भविष्य में अपने इस्तेमाल के लिए बचाने बल्कि ऊर्जा के संसाधनों के व्यापार के जरिए, आने वाले समय में मुनाफा पीटने व विश्व अर्थव्यवस्था में अपना प्रभुत्व बरकरार रखना भी है। ज्ञात हो कि अमेरिका दुनिया में पेट्रोलियम का सबसे बड़ा उपभोग करता है। विश्व के कुल पेट्रोलयम उपभोग का लगभग एक-तिहाई हिस्से की खपत अकेले अमेरिका ही कर लेता है। उसकी अर्थव्यवस्था तेल पर बुरी तरह निर्भर है। इसके साथ-साथ अमेरिका को इस युद्ध के और भी बहुत से लाभ हैं। पूरे विश्व में लूट-खसोट द्वारा जुटाए गए मुनाफे का निवेश (युद्ध निवेश का एक बड़ा माध्यम है) युद्ध में करना हो या फिर अपने देश में रोज़गार-विहीन विकास की बजह से बढ़ती बेरोजगारी के गड्ढे को भरना हो (बेरोजगार नौजवानों को सेना में भर्ती करवा के), अमेरिका ने इराक युद्ध के दौरान, दोनों में अपनी महारत साबित कर दी है।

युद्ध से पूर्व यह अनुमान लगाया गया था की युद्ध में करीब 50 अरब डॉलर की खपत होगी लेकिन अब तक 20,000 अरब डॉलर खर्च हो चुके हैं जो की प्रमुखतः बेरोजगार और ग़रीब नौजवानों को सेना में भर्ती होने के लिए दिया गया बोनस है। एक बेहतर ज़िन्दगी का सपना दिखा इन नौजवानों को अमानवीकृत कर दिया जाता है और अमेरिका की बर्बर, हत्यारी एवं बलात्कारी सेना का हिस्सा बनने भेज दिया जाता है। यही सेना कभी वियतनाम, कभी कोरिया, कभी अमेरिकी महाद्वीप (क्यूबा, पेरू, चिली) तो कभी इराक में अमेरिकी जनतंत्र का झण्डा फहराने पहुँच जाती है, जिसके तले मानव इतिहास के काले पन्ने लिखे जाते हैं।

अमेरिका के पास चाहे जितनी भी उन्नत युद्ध तकनोलॉजी और हथियार हों, बार-बार यह साबित हुआ है कि जहाँ भी वह जनता की ताक़तों से सीधे उलझा है, वहाँ उसे मुँह की खानी पड़ी

(पेज 14 पर जारी)

प्रेम, परम्परा और विद्रोह

• कात्यायनी

(दूसरी किश्त)

अब इस प्रश्न के एक और पहलू पर भी विचार कर लिया जाना चाहिए। चाहे अन्तर्जातीय-अन्तर्धार्मिक विवाह करने वाले किसी युवा जोड़े पर जाति-बिरादरी के पंचों द्वारा बर्बर अत्याचार का सवाल हो, चाहे एम.एफ. हुसैन के चित्रों के विरुद्ध हिन्दुत्ववादी फासिस्टों की मुहिम हो, या चाहे नागरिक अधिकार, जनवादी अधिकार और व्यक्तिगत आज़ादी से जुड़ा कोई भी मसला हो, इन सवालों पर पढ़े-लिखे मध्यवर्ग का या आम छात्रों-युवाओं का भी बड़ा हिस्सा संगठित होकर सड़कों पर नहीं उतरता। ऊपर हमने इसके सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों की आम चर्चा की है। लेकिन उस आम कारण के एक विशिष्ट विस्तार पर भी चर्चा ज़रूरी है, जो आज के भारतीय समाज में प्रगतिशील एवं जनवादी माने जाने वाले बुद्धिजीवियों की स्थिति और आम जनता के विभिन्न वर्गों के साथ उनके रिश्तों से जुड़ी हुई है।

जब भी अन्तर्जातीय-अन्तर्धार्मिक प्रेम या विवाह करने वाले किसी जोड़े पर अत्याचार की या नागरिक अधिकार के हनन की कोई घटना सामने आती है तो दिल्ली या किसी राज्य की राजधानी या किसी अन्य महानगर की सड़कों पर कुछ थोड़े से मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी उसके प्रतीकात्मक विरोध के लिए आगे आते हैं। (दिल्ली में) मण्डी हाउस से होकर जन्तर मन्तर तक, कहीं भी कुछ लोग धरने पर बैठ जाते हैं, किसी एक शाम को मोमबत्ती जुलूस या मौन जुलूस निकाल दिया जाता है, एक जाँच दल घटना-स्थल का दौरा करने के बाद वापस आकर प्रेस के लिए और बुद्धिजीवियों के बीच सीमित वितरण के लिए एक रिपोर्ट जारी कर देता है और कुछ जनहित याचिकाएँ दाखिल कर दी जाती हैं। इन सभी कार्रवाइयों का दायरा अत्यन्त सीमित और अनुष्ठानिक होता है। इनका कर्ता-धर्ता जो बुद्धिजीवी समुदाय होता है, वह केवल तात्कालिक और संकुचित दायरे की इन गतिविधियों से अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री करके अपने प्रगतिशील और जनवादी होने का "प्रमाण" प्रस्तुत कर देता है। व्यापक आम आबादी तक अपनी बात पहुँचाने का, प्रचार और उद्वेलन की विविधरूपा कार्रवाइयों द्वारा उसे जागृत और संगठित करने का तथा ऐसे तमाम मुद्दों को लेकर सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन संगठित करने का कोई दूरगामी-दीर्घकालिक कार्यक्रम उनके एजेण्डे पर वस्तुतः होता ही नहीं। उनकी अपेक्षा केवल सत्ता से होती है कि वह संवैधानिक प्रावधानों-क़ानूनों का सहारा लेकर प्रतिक्रियावादी सामाजिक-राजनीतिक ताक़तों के हमलों से आम लोगों के जनवादी अधिकारों और व्यक्तिगत आज़ादी की हिफ़ाजत सुनिश्चित करे। लोकतंत्र के मुखौटे को बनाये रखने के लिए सरकार और प्रशासन तंत्र भी कुछ रस्मी कार्रवाई करते हैं, कभी-कभार कुछ जाँच, कुछ गिरफ़्तारियाँ होती हैं और कुछ क़ानूनी कार्रवाइयाँ भी शुरू होती हैं और फिर समय बीतने के साथ ही सब कुछ ठण्डा पड़ जाता है।

दरअसल सत्ता और सभी पूँजीवादी चुनावी दलों के सामाजिक अवलम्ब ज़मीनी स्तर पर वही प्रतिगामी और रूढ़िवादी तत्व होते हैं, जो सामाजिक स्तर पर जाति-उत्पीड़न, स्त्री-उत्पीड़न और धार्मिक अल्पसंख्यकों के अलगाव एवं उत्पीड़न के सूत्रधार होते हैं। इसलिए हमारे देश की बुर्जुआ सत्ता यदि चाहे भी तो उनके विरुद्ध कोई कारगर क़दम नहीं उठा सकती। यदि उसे सीमित हद तक कोई प्रभावी क़दम उठाने के लिए मज़बूर भी करना हो तो व्यापक जन-भागीदारी वाले किसी सामाजिक आन्दोलन के द्वारा ही यह सम्भव हो सकता है। इससे भी अहम बात यह है कि ऐसा कोई सामाजिक आन्दोलन सत्ता के क़दमों और क़ानूनों का मोहताज़ नहीं होगा, वह स्वयं नये सामाजिक मूल्यों को जन्म देगा, जनमानस में उन्हें स्थापित करेगा और रूढ़िवादी शक्तियों एवं संस्थाओं के वर्चस्व को तोड़ने की आमूलगामी प्रक्रिया को आगे बढ़ायेगा। इस काम को वह बुद्धिजीवी समाज कत्तई अंजाम नहीं दे सकता जो प्रगतिशील, वैज्ञानिक और जनवादी मूल्यों का आग्रही तो है, लेकिन समाज में उन मूल्यों को स्थापित करने के लिए न तो कोई तकलीफ़ झेलने के लिए तैयार है और न ही कोई जोखिम उठाने के लिए तैयार है।

जो बुद्धिजीवी आज वामपंथी, प्रगतिशील, सेक्युलर और जनवादी होने का दम भरते हैं तथा तमाम रस्मी एवं प्रतीकात्मक कार्रवाइयों में लगे रहते हैं, उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर निगाह डालने से बात साफ़ हो जायेगी। प्रायः ये महानगरों में रहने वाले विश्वविद्यालयों-कालेजों के प्राध्यापक, मीडियाकर्मी, वकील, फ्रीलांसर पत्रकार व लेखक तथा एन.जी.ओ. व सिविल सोसाइटी संगठनों के कर्त्ता-धर्ता हैं। कुछ थोड़े से डॉक्टर, इंजीनियर जैसे स्वतंत्र प्रोफेशनल्स और नौकरशाह भी इनमें शामिल हैं जो प्रायः प्रगतिशील लेखक या संस्कृतिकर्मी हुआ करते हैं। आर्थिक आय की दृष्टि से इनमें से अधिकांश का जीवन सुरक्षित है, इनकी एक सामाजिक हैसियत और इज्ज़त है। यह कथित प्रगतिशील जमात आज़ादी के बाद की आधी सदी, विशेषकर पिछले लगभग तीन दशकों के दौरान, तेज़ी से सुख-सुविधा सम्पन्न हुए मध्यवर्ग की उस ऊपरी परत का अंग बन चुकी है, जिसे इस पूँजीवादी

व्यवस्था के भीतर आर्थिक सुरक्षा के साथ ही सामाजिक हैसियत की बाड़ेबन्दी की सुरक्षा और जनवादी अधिकार भी हासिल हैं। इस सुविधासम्पन्न विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यक उपभोक्ता वर्ग में प्रोफ़ेसर, मीडियाकर्मी, वकील आदि के रूप में रोज़ी कमाने वाले जो प्रगतिशील लोग शामिल हैं, वे अपने निजी जीवन में यदि जाति-धर्म को नहीं मानते हैं, स्वयं प्रेम विवाह करते हैं, अपने बच्चों को इसकी इजाज़त देते हैं और प्रगतिशील आचरण करते हैं, तो भी वे इन मूल्यों को व्यापक आम आबादी के बीच ले जाने के लिए किसी सामाजिक-सांस्कृतिक मुहिम का भागीदार बनने की जहमत या जोखिम नहीं उठाते। साथ ही, इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो प्रगतिशीलता की बात तो करते हैं, लेकिन अपनी निजी व पारिवारिक ज़िन्दगी में निहायत पुराणपंथी हैं। चुनावी वामपंथी दलों के नेताओं में से अधिकांश ऐसे ही हैं। इनमें से पहली कोटि के प्रगतिशीलों का कुलीनतावादी जनवाद और वामपंथ हो या दूसरी कोटि के प्रगतिशीलों का दोगला-दुरंगा जनवाद और वामपंथ मेहनतक़श और सामान्य मध्यवर्ग के लोग उन्हें भली-भाँति पहचानते हैं और उनसे घृणा करते हैं। कुलीनतावादी प्रगतिशीलों और छद्म वामपंथियों का जीवन मुख्य तौर पर देश के ऊपरी पन्द्रह-बीस करोड़ आबादी के जीवन का हिस्सा बन चुका है, उस उच्च मध्यवर्गीय आबादी का हिस्सा बन चुका है जो एक लम्बी पीड़ादायी क्रमिक प्रक्रिया में, विकृत और आधे-अधूरे ढंग से, पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों के पूरा होने के बाद, आम जनसमुदाय के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात कर चुका है। उसे देश की लगभग पचपन करोड़ सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी या रोजाना बीस रुपये से कम पर जीने वाली चौरासी करोड़ आबादी के जीवन के अँधेरे और यंत्रणाओं से अब कुछ भी लेना-देना नहीं रह गया है। एक परजीवी जमात के रूप में वह मेहनतक़शों से निचोड़े गये अधिशेष का भागीदार बन चुका है। आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से इस परजीवी वर्ग का हिस्सा बन चुके जो बुद्धिजीवी प्रगतिशील, जनवादी और सेक्युलर विचार रखते हैं, उनकी कुलीनतावादी, अनुष्ठानिक, नपुंसक प्रगतिशीलता आम लोगों में घृणा और दूरी के अतिरिक्त भला और कौन सा भाव पैदा कर सकती है? इस तबके की जो स्त्रियाँ हैं, ऊपरी तौर पर आमलोगों को वे आज़ाद लगती हैं (हालाँकि वस्तुतः ऐसा होता नहीं) और यह आज़ादी उनकी विशेष सुविधा प्रतीत होती है जिसके चलते मेहनतक़श और आम मध्यवर्ग की स्त्रियाँ (ऊपर से सम्मान देती हुई भी) उनसे बेगानगी या घृणा तक का भाव महसूस करती हैं तथा उन्हें अपने से एकदम अलग मानती हैं।

उपरोक्त पूरी चर्चा के जरिए हम इस सच्चाई की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि प्रेम करने की आज़ादी पर रोक सहित किसी भी मध्ययुगीन बर्बरता, धार्मिक कट्टरपंथी हमले या जातिवादी उत्पीड़न के विरुद्ध कुलीनतावादी प्रगतिशीलों की रस्मी, प्रतीकात्मक कार्रवाइयों का रूढ़िवादी शक्तियों और मूल्यों पर तो कोई असर नहीं ही पड़ता है, उल्टे आम जनता पर भी इनका उल्टा ही प्रभाव पड़ता है। सुविधासम्पन्न, कुलीनतावादी प्रगतिशीलों का जीवन आम लोगों से इतना दूर है कि उनके जीवन-मूल्य (यदि वास्तविक हों तो भी) जनता को आकृष्ट नहीं करते।

एक दूसरी बात जो ग़ौरतलब है, वह यह कि आज के भारतीय समाज में मध्ययुगीन बुराइयों के साथ-साथ आधुनिक बुर्जुआ जीवन की तमाम बुराइयाँ और विकृतियाँ भी मौजूद हैं। आम लोगों को पुरानी बुराइयों के विकल्प के तौर पर समाज में आधुनिक बुर्जुआ जीवन की बुराइयाँ ही नज़र आती हैं। पुरानी बुराइयों के साथ जीने की उन्हें आदत पड़ चुकी है। उनसे उनका परिचय पुराना है। इसलिए नई बुराइयाँ उन्हें ज़्यादा भयावह प्रतीत होती हैं। आधुनिक बुर्जुआ जीवन की सामाजिक-सांस्कृतिक विकृतियों को देखकर वे पुराने जीवन-मूल्यों से चिपके रहने का स्वाभाविक विकल्प चुनते हैं। महानगरों में तरह-तरह के सेक्स रैकेट्स, प्रेम विवाहों की विफलता, यौन अपराधों आदि की खबरें पढ़-सुनकर और मीडिया में बढ़ती अश्लीलता आदि देखकर आम नागरिक इन्हें आधुनिक जीवन का प्रतिफल मानते हैं और इनसे सहज प्रतिक्रियास्वरूप उन रूढ़ियों को अपना शरण्य बनाते हैं जिनके साथ जीने के वे शताब्दियों से और पीढ़ियों से आदि रहे हैं। इसका एक वस्तुगत कारण आज की ऐतिहासिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों में भी मौजूद है, जब प्रगति की धारा पर विपर्यय और प्रतिगामी पुनरुत्थान की धारा हावी है और चतुर्दिक गतिरोध का माहौल है। और मनोगत कारण यह है कि विपर्यय और गतिरोध के इस दौर में ऐतिहासिक परिवर्तन की वाहक मनोगत शक्तियाँ अभी बिखरी हुई और निहायत कमज़ोर हैं। नये सिरे से नयी ज़मीन पर उनके उठ खड़े होने की प्रक्रिया अभी एकदम शुरुआती दौर में है। ऐसी ही शक्तियाँ अपने विचार और व्यवहार के द्वारा जनता के सामने मध्ययुगीन और विकृत बुर्जुआ जीवन मूल्यों का नया, मानवीय और वैज्ञानिक विकल्प प्रस्तुत कर सकती हैं।

फिलहाल की गतिरुद्ध स्थिति के बारे में भगतसिंह का उद्धरण एकदम सटीक ढंग से लागू होता है और ऐसी स्थिति में नयी क्रान्तिकारी शक्तियों के दायित्व के बारे में भी यह एकदम सही बात कहता है : *"जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है तो किसी भी प्रकार की तब्दीली से वे हिचकिचाते हैं। इस जड़ता और निष्क्रियता को तोड़ने के लिए एक क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की ज़रूरत होती है, अन्यथा पतन और बर्बादी का वातावरण छा जाता है। लोगों को गुमराह करने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जनता को ग़लत रास्ते पर ले जाने में सफल हो जाती हैं। इससे इंसान की प्रगति रुक जाती है और उसमें गतिरोध आ जाता है। इस परिस्थिति को बदलने के लिए यह ज़रूरी है कि क्रान्ति की स्पिरिट ताज़ा की जाए, ताकि इंसानियत की रूह में हरकत पैदा हो।"*

●

जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की है, सच्चे अर्थों में दो स्त्री-पुरुष नागरिकों के बीच प्रेम की आज़ादी का प्रश्न इतिहास का एक दीर्घकालीन प्रश्न है। केवल पुरातन मध्ययुगीन रूढ़ियाँ, जाति और धर्म के बन्धन और बड़े-बुजुर्गों का निरंकुश स्वेच्छाचारी वर्चस्व ही प्रेम करने की मानवीय आज़ादी के राह की बाधाएँ नहीं

हैं। जिस समाज में पूँजी का जीवन पर चतुर्दिक वर्चस्व स्थापित हो, उस समाज में मनुष्य की तमाम आज़ादियों के साथ ही प्रेम करने की आज़ादी पर भी, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में, स्थूल और सूक्ष्म रूप में, प्रेम की स्वतंत्रता पर एक हज़ार एक पाबन्दियाँ अनिवार्यतः काम करती रहती हैं। पूँजीवादी समाज में जो उजरती गुलाम हड्डियाँ गलाकर भी महज इतना ही हासिल कर पाते हैं कि उत्पादन करने के लिए बस जीवित रह सके और उजरती गुलामों की नयी पीढ़ी पैदा कर सकें, जिनके पास आत्मीयता और सुकून के पल गुजारने के लिए न समय होता है न पैसा और जो मनुष्यता के सभी आत्मिक-सांस्कृतिक सम्पदा से अपरिचित होते हैं, उनके लिए प्रेम की आज़ादी का भला क्या अर्थ हो सकता है? पूँजी से पूँजी बटोरना ही जिन पूँजीपतियों का जीवन होता है और पूँजी स्वयं जिन पर जीन-लगाम कसकर सवारी करती रहती है, वे पूँजीपति प्यार करने के मिथ्याभास में जीने के अतिरिक्त भला क्या कर सकते हैं? जिस समाज में तमाम जनवादी अधिकारों और समानताओं के दावों के बावजूद स्त्रियाँ दोयम दर्जे की नागरिक हों, वहाँ भला सच्चे अर्थों में प्रेम कैसे सम्भव हो सकता है, क्योंकि यह तो सच्चे अर्थों में आज़ाद और समान नागरिकों के बीच ही सम्भव हो सकता है। और सबसे बुनियादी प्रश्न यह है कि जिस समाज में पण्य पूजा (कमोडिटी फेटिसिज़्म) सामाजिक-श्रम विभाजन से पैदा हुए अलगाव (एलियनेशन), 'रीइफिकेशन', आत्म-निर्वासन और व्यक्तित्व के विघटन ने आम नागरिकों को मानवीय मूल्यों और मानवीय सारतत्व से बेगाना बना दिया है, उस समाज में प्रेम की आज़ादी क्या एक वस्तुगत यथार्थ हो सकता है? यूरोप के प्रबोधन-कालीन दार्शनिकों और बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों ने स्त्री-पुरुष समानता और व्यक्तिगत आज़ादी के उसूलों पर आधारित एकनिष्ठ या एकान्तिक प्रेम के जिस स्वरूप को और उसकी आज़ादी को उन्नत मानव जीवन के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया और जिसने सीमित हद तक यूरोप के प्रारम्भिक बुर्जुआ जीवन में कुछ स्वस्थ-सकारात्मक मूल्य भी पैदा किये, हम उसके ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करते हैं। लेकिन बुर्जुआ सामाजिक ढाँचे और श्रम-विभाजन के जड़ीभूत होने के साथ ही उसका अग्रवर्ती विकास रुक गया, प्रबोधनकालीन आदर्श स्खलित हो गये और फिर बीसवीं शताब्दी के ह्रासमान पूँजीवाद ने मनुष्यता को आत्मिक वंचना और मानवद्रोही संस्कृति के वर्चस्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिया। प्रबोधनकालीन आदर्शों के परचम को फिर पूँजीवाद-विरोधी सर्वहारा क्रान्ति की विचारधारा ने ऊँचा उठाया और उसी ने पहली बार यह विचार प्रस्तुत किया कि प्रेम की पूर्ण स्वतंत्रता केवल उसी समय आम तौर पर स्थापित हो सकेगी जब पूँजीवादी उत्पादन, उससे उत्पन्न स्वामित्व-सम्बन्ध और आत्मिक मूल्य समाप्त हो जायेंगे। यह एक सुदूर भविष्य की बात है, लेकिन जो इतिहास की वर्तमान अवस्था को ही इसका अन्त नहीं मानते, सच्चे मानवीय प्रेम के बारे में आज उनका यही आदर्श हो सकता है और यही भविष्य-स्वप्न हो सकता है। लेख के इस हिस्से में हम इसी विषय पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे। प्रेम की अवधारणा की शाश्वतता और अलौकिकता के मिथक को खण्डित करने के लिए और इसकी वास्तविकता को समझने के लिए ज़रूरी है कि हम ऐतिहासिक-सामाजिक विवेचना के थोड़े विस्तार में जायें। इस प्रसंग से लेख के इस हिस्से में थोड़ी सी दार्शनिक जटिलता भी आ सकती है, लेकिन इस अपरिहार्य विवशता के लिए पाठक हमें क्षमा करेंगे।

बात हमने इस प्रसंग में शुरू की थी कि यदि प्रेम करने की आज़ादी की बात करते हुए हम केवल पुरातन मध्ययुगीन स्वेच्छाचारिता और रूढ़ियों-मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह की ही बात करते हैं, तो यह मात्र एक बुर्जुआ जनवादी माँग होगी और इतिहास आज उस युग से काफ़ी दूर निकल आया है। आज भौतिक जीवन के साथ ही आत्मिक जीवन पर भी स्थापित पूँजी की मानवद्रोही वर्चस्ववादी सत्ता से मुक्ति के प्रश्न पर सोचे बिना मनुष्य की किसी भी प्रकार की आज़ादी की बात करना बेमानी है और इसमें प्रेम करने की आज़ादी भी शामिल है। (आगे हम इस बात की भी चर्चा करेंगे कि "प्रेम करने की आज़ादी" को बुर्जुआ अराजकतावादी अनैतिक मानस किस चश्मे से देखता है और इसका वास्तविक कम्युनिस्ट अर्थ क्या होता है)। यदि हम केवल प्रेम करने के किसी व्यक्ति की आज़ादी पर मध्ययुगीन रूढ़ियों-मूल्यों की बन्दिशों और उनके विरुद्ध विद्रोह की बात तक ही रुक जायेंगे तो यह बुर्जुआ प्रेम का आदर्शीकरण होगा। अतः हमें इससे आगे जाना होगा। इसके लिए ज़रूरी है कि हम प्रेम की अवधारणा को ही वृहत्तर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें। पश्चिम के जिन उन्नत बुर्जुआ समाजों में दो युवाओं के प्रेम करने या जीवन-साथी चुनने में रूढ़ियों-मूल्यों या बुजुर्गों का हस्तक्षेप न के बराबर रह गया है, क्या कारण है कि वहाँ भी विवाहेतर सम्बन्धों, बेवफ़ाई, बलात्कार, स्त्री-उत्पीड़न तथा नीरस घिसटते और टूटते वैवाहिक जीवन की घटनाएँ इतनी आम हो चुकी हैं कि सामाजिक ताना-बाना ही टूटता-बिखरता प्रतीत होता है। समृद्धि और प्रेम करने की प्रतीयमान या औपचारिक आज़ादी के बावजूद अवसाद और तमाम प्रकार की मनोविकृतियों से पश्चिमी समाज इस कदर ग्रस्त क्यों है? कारण एकदम स्पष्ट है। दो मनुष्य किसी द्वीप पर रहकर प्यार नहीं करते। वे इसी समाज में प्रेम करते हैं और उनका प्रेम भौतिक जीवन स्थितियों और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश एवं मूल्यों से स्वतंत्र, अछूता, निरपेक्ष नहीं हो सकता।

एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्यों के बीच प्रेम कोई जैविक आवेग, ईश्वरीय वरदान या समाज-निरपेक्ष भावना नहीं होता। प्रेम की अवधारणा सामाजिक वर्गीय संरचना से स्वतंत्र, शाश्वत और विविक्त नहीं होती। जिस प्रकार वर्ग समाज में जेण्डर एक जैविक तथ्य से भी कहीं अधिक एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के बीच का प्रेम भी एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' है। यह एक सामाजिक-विचारधारात्मक-सांस्कृतिक अवधारणा है जो सामाजिक संरचना और आत्मिक मूल्यों में बदलाव के साथ बदलती रही है। प्रेम और प्रेम करने की आज़ादी के निहितार्थ की वर्ग-सापेक्षता और काल-सापेक्षता को समझने के लिए इस बात को समझना ज़रूरी है। इसके लिए हम स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम की अवधारणा की ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया का

यहाँ संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

●

कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'दर्शन की दरिद्रता' में लिखा है : *'मानव प्रकृति का सतत रूपान्तरण ही इतिहास है' ('द पावर्टी ऑफ फिलासोफी', इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1963, पृ. 147)* मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसकी यह प्रकृति है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, प्रकृति के विरुद्ध आचरण करता है। जब वह ऐसा नहीं करता था तो पशुजगत का एक अंग था। फिर श्रम की विशिष्टता ने उसे मनुष्य बनाया (देखिए, फ्रेडरिक एंगेल्स : *'वानर से नर बनने में श्रम की भूमिका'*)। जैविक आवश्यकताओं से प्रेरित पाशविक सम्भोग से विच्छेद कर आगे बढ़ने की ज़मीन भी तभी तैयार हुई, जब पशुजगत से बाहर संक्रमण करके मनुष्य ने प्रकृति से पहला निर्णायक विच्छेद किया और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करना शुरू किया। अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह प्रकृति-प्रदत्त चीज़ों पर निर्भर रहने के बजाय काम करने लगा, यानी अपने श्रम से, प्राकृतिक चीज़ों से कुछ नयी चीज़ों का निर्माण करने लगा। यह एक सामूहिक प्रक्रिया थी, यानी श्रम की सारवस्तु शुरू से ही सामाजिक थी। अपने उद्गम और मूल प्रकृति से ही मनुष्य का सारतत्व अलग-थलग व्यक्तित्वों पर आधारित अमूर्तन नहीं है। मानवीय अस्तित्व श्रम पर आधारित और ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया से गुजरने वाले सामाजिक सम्बन्धों के समुच्चय के अन्तर्गत, और इसके द्वारा, संघटित हुआ है। कहा जा सकता है कि मनुष्य का जीवन अपने स्वत्व और उसके लिए ज़रूरी भौतिक वस्तुओं को अर्जित करने और फिर उस स्थिति का अतिक्रमण करके आगे बढ़ने की एक सतत् प्रक्रिया है जो उसकी चेतना, भावनाओं और आत्मिक जगत को भी निरन्तर समृद्ध बनाती रहती है। सभ्यता के इतिहास में, इसी प्रक्रिया में भौतिक उत्पादन के लिए ज़रूरी साहचर्य और मानवीय पुनरुत्पादन के लिए ज़रूरी सम्भोग-क्रिया ने सामाजिक संरचना और परिवार संस्था के विविध विकासमान रूपों के अन्तर्गत स्त्री-पुरुष की मानवीय चेतना में एक विशिष्ट आकर्षण की भावना को एक विशिष्ट भावावेग को जन्म दिया जो सहस्राब्दियों से गुजरकर, आधुनिक, रोमानी, एकनिष्ठ (या एकान्तिक) यौन-प्रेम के रूप में विकसित हुआ।

मार्क्स और एंगेल्स अपनी पुस्तक 'जर्मन विचारधारा' में अत्यन्त तर्कसंगत ढंग से बताते हैं कि सभ्यता के विकास की तीन प्रारम्भिक स्थितियाँ और शर्तें रही हैं। पहली ऐतिहासिक शर्त और स्थिति रही है, भोजन, वस्त्र, आवास और अन्य ज़रूरतों की पूर्ति के साधनों का उत्पादन करना। दूसरी ऐतिहासिक शर्त और स्थिति यह रही है कि पहली आवश्यकता की पूर्ति (आवश्यकता-पूर्ति की क्रिया और उसके लिए अर्जित उपकरण) नयी आवश्यकताएँ पैदा कर देती हैं। ये दो शर्तें या स्थितियाँ मिलकर "पहला ऐतिहासिक कार्य" बन जाती हैं और इनके साथ एक तीसरी पूर्वशर्त *'एक तीसरे किस्म का प्राकृतिक-सामाजिक सम्बन्ध'* जुड़ जाती है। यह तीसरी स्थिति या शर्त, जो ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में शुरू में ही प्रविष्ट हो जाती है, यह है कि मनुष्य जो प्रतिदिन अपने जीवन का पुनर्निर्माण करते हैं, वे अपनी जाति को बढ़ाने के लिए दूसरे मनुष्यों का भी निर्माण करते हैं : यानी स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध का, अभिभावक और बच्चों के बीच सम्बन्ध का, परिवार का निर्माण करते हैं। यह परिवार शुरू में तो एकमात्र सामाजिक सम्बन्ध था, पर नयी-नयी पैदा होने वाली आवश्यकताओं द्वारा नये सामाजिक सम्बन्धों को जन्म देने और बढ़ती आबादी के चलते नयी-नयी आवश्यकताओं के पैदा होने के बाद यह एक अधीनस्थ सामाजिक सम्बन्ध बनकर रह गया। मार्क्स ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये तीन ऐतिहासिक शर्तें या स्थितियाँ तीन अलग-अलग अवस्थाओं के रूप में नहीं बल्कि सभ्यता के उषाकाल से ही सामाजिक गतिविधि के तीन पहलुओं के रूप में मौजूद रही हैं और इतिहास के वर्तमान दौर में भी इनकी यही भूमिका है। (विस्तार के लिए देखें, मार्क्स और एंगेल्स : *'जर्मन आइडियोलॉजी', पृ. 31 और पृ. 39-41, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1964)*

मनुष्य का इतिहास एक ही साथ, प्राकृतिक और सामाजिक दोनों है। जो स्थितियाँ और सम्बन्ध इसे जन्म देते हैं, उनके मूल में दोहरा उत्पादन होता है : *श्रम* के द्वारा भौतिक वस्तुओं का उत्पादन और *प्रजनन* के द्वारा मानव जीवन का उत्पादन। मनुष्य प्रकृति के साथ प्राकृतिक और सामाजिक दोनों प्रकार के बन्धनों से जुड़ा हुआ है। लेकिन मनुष्य की ऐतिहासिक प्रकृति का निर्धारण करने वाली शक्तियों की द्वैधता की धारणा को मार्क्स सिरे से खारिज करते हैं। सेक्सुअल शक्तियों और उत्पादक शक्तियों को वे एक-दूसरे के समकक्ष या समतुल्य नहीं मानते। प्रजनन या मानव जाति का पुनरुत्पादन ऐतिहासिक अस्तित्व की बुनियादी शर्त है लेकिन *इतिहास* मात्र मनुष्य का उद्भव और क्रम-विकास नहीं है। इतिहास की उत्पत्ति और विकास की कारक शक्ति उत्पादक शक्तियों के उपयोग, निर्माण और विकास में निहित है जो आम तौर पर मानव-सम्बन्धों को, और साथ ही, खास तौर पर, सेक्सुअल सम्बन्धों की मानवीय अन्तर्वस्तु और रूप को भी निर्धारित करते हैं। मानवीय स्वत्व शुरू से ही केवल प्राकृतिक नहीं, बल्कि सर्वोपरि तौर पर ऐतिहासिक रहा है। स्त्री और पुरुष के बीच के रिश्तों का विकास (उनके बीच प्रेम की अवधारणा का विकास, यौन क्रिया का पाशवेतर, मानवीय कलात्मक विकास और परिवार संस्था का विकास) उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों के विकास द्वारा ही निर्धारित और अनुकूलित होता है।

आदिम युगों के दौरान, जब मनुष्य अभी अपनी यात्रा में प्रकृति और पशुजगत से बहुत दूर नहीं निकल आया था, जब अभी निजी सम्पत्ति और उस पर आधारित असमानतापूर्ण सामाजिक सम्बन्धों का जन्म नहीं हुआ था, तब स्त्री-पुरुष के बीच के रिश्ते काफ़ी हद तक पाशविक जैविक आकर्षण और प्रजनन के दायरे में सीमित थे और उनमें शोषण या उत्पीड़न का कोई पहलू था ही नहीं। यानी जब सामाजिक श्रम-विभाजन का अस्तित्व नहीं था तब स्त्री-पुरुष के बीच एक ही श्रम-विभाजन था और वह था

सेक्सुअल क्रिया में श्रम-विभाजन (मार्क्स-एंगेल्स : *जर्मन आइडियोलॉजी, पूर्वोद्धृत, पृ. 42-43*)। इसमें विपरीत तत्वों के संघात और एकता के रूप में अन्तर्क्रिया का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त तो काम करता था, लेकिन दोनों में से किसी एक की भूमिका उत्पीड़क की और दूसरे की उत्पीड़ित की नहीं थी। सामाजिक श्रम-विभाजन और उसमें निहित सभी अन्तरविरोधों के विकास के साथ ही स्त्री-पुरुष के रिश्तों में भी परिवर्तन आया। यौन क्रिया और उससे जुड़े मनोभावों के सन्दर्भ में भी एक की स्थिति उत्पीड़क की और दूसरे की उत्पीड़ित की हो गयी। यह सामाजिक श्रम-विभाजन परिवार में श्रम के प्राकृतिक विभाजन और समाज के परस्पर-विरोधी पारिवारिक इकाइयों में विलगाव पर आधारित था जो साथ-साथ श्रम और उसके उत्पाद के, और इस रूप में सम्पत्ति के, परिमाणात्मक और गुणात्मक, असमान बँटवारे को जन्म देता था। परिवार में स्त्रियों और बच्चों की पुरुषों के बरक्स गुलाम जैसी स्थिति बन गयी। परिवार में यह गुलामी बेहद भोंड़े रूप में थी, लेकिन यही प्रच्छन्न गुलामी सम्पत्ति का पहले रूप का आधार थी। (विस्तार के लिए, मार्क्स और एंगेल्स : *'जर्मन आइडियोलॉजी', पूर्वोद्धृत, पृ. 44*)।

निजी सम्पत्ति के अग्रगामी विकास ने ही पारिवारिक जीवन और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के रूपों के विकास का निर्धारण किया। निजी सम्पत्ति और श्रम-विभाजन ने परिवार को समुदाय के भीतर अलग-थलग कर दिया और इसे सामुदायिक यथार्थ के बजाय एक निजी यथार्थ बना दिया। एक पृथक्कृत घरेलू अर्थव्यवस्था का निर्धारण सीधे-सीधे निजी सम्पत्ति की गति ही करती है। यदि हम समकालीन बुर्जुआ समाज को भी देखें तो नागरिक समाज (सिविल सोसाइटी) और राज्य की मान्यता प्राप्त और पूर्वगृहीत आधारशिला इसमें भी परिवार ही है। चूँकि निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध ही वे बन्धन हैं जो आभासी या भ्रामक समुदाय और इसके सदस्यों को वस्तुओं के प्राकृतिक जगत से बाँधने का काम करते हैं, या यूँ कहें कि उन्हें इसके साथ परकीयकृत रूप में (इन एलियनेशन) जोड़ते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि विवाह "निश्चित तौर पर विशिष्ट निजी सम्पत्ति का एक रूप है" (मार्क्स : *मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844, पृ. 133, इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1964*)।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' में फ्रेडरिक एंगेल्स ने इतिहास और नृतत्वशास्त्र की खोजों के आधार पर यह दर्शाया है कि मानव-विकास के तीन मुख्य युगों के अनुरूप विवाह के तीन मुख्य रूप मिलते हैं : जंगल युग में यूथ विवाह, बर्बर युग में युग्म विवाह और सभ्यता के युग में एकनिष्ठ विवाह और उसके साथ जुड़ा हुआ व्यभिचार और वेश्यावृत्ति। बर्बर युग की उन्नत अवस्था में, युग्म परिवार तथा एकनिष्ठ विवाह के दौर में, दासियों पर पुरुषों का आधिपत्य और बहुपत्नी-प्रथा आम बात थी। नृतत्वशास्त्र और इतिहास की अधुनातन खोजें भी इसी बात को सिद्ध करती हैं कि अन्य संस्थाओं की ही भाँति मानव-विकास के साथ-साथ परिवार के स्वरूप में भी बदलाव आया और इसकी प्रमुख मंजिलें उत्पादक शक्तियों के विकास और मनुष्यों के बीच के सम्बन्धों में आये गुणात्मक परिवर्तनों से निर्धारित हुईं। आदिम मनुष्यों के समय से सभ्य जगत तक की यात्रा के दौरान परिवार के स्वरूप में आये आधारभूत बदलाव के बारे में एंगेल्स की प्रमुख स्थापना यह है कि एकनिष्ठ परिवार की अन्तिम विजय सभ्यता की शुरुआत का एक लक्षण था और कि यह एकनिष्ठ परिवार पुरुष-श्रेष्ठता पर आधारित था जिसमें पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए निर्विवाद पितृत्व वाली सन्तान पैदा करना स्त्री के लिए ज़रूरी था। प्राचीन ग्रीक समाज के अध्ययन के आधार पर एंगेल्स ने दर्शाया कि स्त्री-पुरुष के बीच एकनिष्ठ सम्बन्ध वैयक्तिक यौन-प्रेम (सेक्स-लव) या स्त्री-पुरुष के बीच बराबरी के रिश्ते के रूप में नहीं बल्कि स्त्री की पुरुष-अधीनस्थता के रूप में, इतिहास के प्रथम वर्ग-विभाजन और वर्ग-शोषण एवं वर्ग-उत्पीड़न के उत्पन्न होने के साथ-साथ, स्थापित हुआ। एकनिष्ठ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध (मोनोगैमी) तब पैदा हुआ जब एक पुरुष के हाथों में पर्याप्त सम्पत्ति संकेन्द्रित हो गयी और यह चाहत पैदा हुई कि वह सम्पत्ति किसी दूसरे के बच्चों को न मिले। पर इसके लिए केवल स्त्री की एकनिष्ठता ही ज़रूरी थी। और ऐसा ही हुआ। शुरू से लेकर आज तक एकनिष्ठ सम्बन्ध केवल स्त्री के लिए अनिवार्य रहे हैं। पुरुष की यौन-स्वतंत्रता आद्यन्त अक्षत रही है। विवाहेतर सम्बन्ध या कई पुरुषों से यौन-सम्बन्ध स्त्रियों के लिए तो भयंकर सामाजिक-क़ानूनी सज़ा का हक़दार बनाने वाला अपराध रहा है, लेकिन पुरुष के लिए वह या तो सम्माननीय या सामाजिक मान्यताप्राप्त या ज़्यादा से ज़्यादा, एक मामूली, सहनीय नैतिक धब्बा रहा है। एंगेल्स लिखते हैं : *"पुराने परम्परागत हैटेरिज़्म को माल का वर्तमान पूँजीवादी उत्पादन जितना ही बदलता और अपने रंग में ढालता जाता है, उतना ही समाज पर उसका अधिक खराब असर पड़ता है। स्त्रियों में वेश्यावृत्ति केवल उन्हीं अभागिनों को पतन के गड्ढे में ढकेलती हैं जो उसके चंगुल में फँस जाती हैं, और इन स्त्रियों का भी उतना पतन नहीं होता जितना आम तौर पर समझा जाता है। परन्तु दूसरी ओर, वेश्यावृत्ति सारे पुरुष संसार के चरित्र को बिगाड़ देती है और इसप्रकार दस में से नौ उदाहरणों में विवाह के पहले सगाई की लम्बी अवधि कार्यतः दाम्पत्य (से) बेवफ़ाई की ट्रेनिंग की अवधि बन जाती है।"* (एंगेल्स : *परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति'*, मार्क्स-एंगेल्स : *संकलित रचनाएँ, खण्ड-3, भाग-2, पृ. 88, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978*)।

अब सवाल यह उठता है कि यदि परिवार की उत्पत्ति और सभ्य जगत में उसके आधार के बारे में ये बातें सही हैं, तो समाजवादी संक्रमण के अन्तर्गत, जब उत्पादन के साधनों में निजी स्वामित्व का उन्मूलन हो जायेगा और कम्युनिज़्म के अन्तर्गत, जब वर्ग-सम्बन्धों का ही विलोपन हो जायेगा, तो उन स्थितियों का परिवार या विवाह संस्था पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इसके उत्तर के लिए और भावी समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के आम स्वरूप को जानने के लिए हमें एंगेल्स को फिर किंचित विस्तार से उद्धृत करना पड़ेगा : *"अब हम एक ऐसी सामाजिक क्रान्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप एकनिष्ठ विवाह का वर्तमान आर्थिक आधार उतने ही निश्चित रूप से मिट जायेगा,*

जितने निश्चित रूप से एकनिष्ठ विवाह के अनुपूरक का, वेश्यावृत्ति का आर्थिक आधार मिट जायेगा। ....आने वाली सामाजिक क्रान्ति स्थायी दायादृय (हेरिटेबल) धन-सम्पदा के अधिकतर भाग को यानी उत्पादन के साधनों को सामाजिक सम्पत्ति बना देगी और ऐसा करके सम्पत्ति की विरासत के बारे में इस सारी चिन्ता को अल्पतम कर देगी। पर एकनिष्ठ विवाह चूँकि आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुआ था, इसलिए क्या इन कारणों के मिट जाने के बाद वह भी मिट जायेगा?

"इस प्रश्न का यह उत्तर शायद ग़लत नहीं होगा : मिटना तो दूर, एकनिष्ठ विवाह तब जाकर ही पूर्णता प्राप्त करने की ओर बढ़ेगा। कारण कि उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व में रूपान्तरण के फलस्वरूप उजरती श्रम, सर्वहारा वर्ग भी मिट जायेगा और उसके साथ-साथ यह आवश्यकता भी जाती रहेगी कि एक निश्चित संख्या में जिस संख्या को हिसाब लगाकर बताया जा सकता है स्त्रियाँ पैसे लेकर अपनी देह को पुरुषों के हाथों में सौंप दें। तब वेश्यावृत्ति का अन्त हो जायेगा और एकनिष्ठ विवाह-प्रथा मिटने के बजाय, पहली बार पुरुषों के लिए भी वास्तविकता बन जायेगी।" (एंगेल्स : *पूर्वोद्धृत, पृ. 88-89*)।

लेकिन फिर एंगेल्स यह सवाल उठाते हैं कि जब उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो जाने के बाद वैयक्तिक परिवार समाज की आर्थिक इकाई नहीं रह जायेगा, जब घर का निजी प्रबन्ध, बच्चों का लालन-पालन और शिक्षा एक सार्वजनिक मामला हो जायेगा, जब किसी लड़की को मनचाहे पुरुष को प्यार करने से रोकने वाले आर्थिक, सामाजिक और नैतिक कारणों का भौतिक आधार ही समाप्त हो जायेगा, तब क्या वेश्यावृत्ति के साथ-साथ एकनिष्ठ विवाह भी (क्योंकि ये दोनों विपरीत होते हुए भी एक ही सामाजिक व्यवस्था के दो सिरे हैं) समाप्त नहीं हो जायेगा और तब क्या पूर्णतः अनियंत्रित, स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों का घटाटोप नहीं छा जायेगा? एंगेल्स इस भ्रान्ति को सिरे से खारिज करते हुए इतिहास में आविर्भूत उस नये तत्व की महत्ता को रेखांकित करते हैं जिसे व्यक्तिगत यौन-प्रेम या सामान्य तौर पर रोमानी (रोमैण्टिक) प्यार कहा जाता है। यह सभ्यता का युग शुरू होते समय, यानी एकनिष्ठ विवाह के विकसित होने के समय ज़्यादा से ज़्यादा केवल बीज रूप में ही मौजूद था। इसका वास्तविक अर्थों में विकास पूँजीवाद के आगमन के बाद ही हुआ। तमाम आर्थिक-सामाजिक बाध्यताओं की समाप्ति के बाद, पूरी तरह से पारस्परिक आकर्षण, भावनात्मक (और भावना विचारों से विच्छिन्न कोई चीज़ नहीं होती) एकता, समानता और स्वतंत्र चाहत पर आधारित व्यक्तिगत यौन-प्रेम या रोमानी प्रेम ही स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का आधार होगा। यह व्यक्तिगत यौन-प्रेम चूँकि प्रकृति से ही एकान्तिक होता है, इसलिए पूँजीवाद की समाप्ति के बाद ही सच्चे अर्थों में एकनिष्ठ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे, या कहें कि केवल तभी जाकर, स्त्री-पुरुष दोनों के लिए, सच्चे अर्थों में प्रेम करने की आज़ादी क़ायम हो सकेगी। आज के प्रेम-सम्बन्ध या एकनिष्ठ विवाह में जो एकान्तिकता होती है, वह पूर्ण रूप में केवल स्त्री के लिए ही होती है, जबकि पुरुष इससे स्वतंत्र होता है।

इस बात को भली-भाँति समझने के लिए थोड़ा और विस्तार में जाने की ज़रूरत है। आधुनिक काल का यौन प्रेम या रोमानी प्रेम या 'पैशन लव' प्राचीन काल की सरल यौनेच्छा या 'ईरोस' (eros) से बहुत अलग चीज़ है। प्राचीनकालीन 'ईरोस' में औरत की चाहत का कोई विशेष महत्व नहीं होता था, जबकि यौन-प्रेम दोतरफ़ा होता है, यानी यह मानकर चलता है कि प्रेम करने पर प्रेम मिलता भी है। यह एक उत्कट भाव होता है जिसमें प्रेमी-प्रेमिका को लगता है कि वे एक-दूसरे के बिना जी नहीं सकते। इसमें सम्भोग को केवल क़ानूनी नहीं बल्कि नैतिक मानकों से देखा जाता है और पारस्परिक प्रेम का परिणाम होने पर ही उसे स्वीकार्य माना जाता है। प्राचीन काल में प्रेम की उत्कटता या तो स्वतंत्र नागरिकों के अधिकृत समाज से बाहर दासों के बीच देखने को मिलती थी या फिर विवाहेतर यौन-व्यापार में, और वह भी अधिकृत समाज से बाहर समझी जाने वाली स्त्रियों यानी हैटेराओं के साथ प्रेम में देखने को मिलती थी। यानी प्राचीन समाज के स्वतंत्र नागरिकों में यदि सचमुच प्रेम होता भी था तो केवल विवाह के बन्धन तोड़कर, व्यभिचार के रूप में। पति-पत्नी के बीच जो थोड़ा-बहुत प्रेम देखने में आता भी था, तो वह मनोगत प्रवृत्ति नहीं बल्कि वस्तुगत कर्त्तव्य था। वह विवाह का कारण नहीं बल्कि उसका पूरक था। विवाह माता-पिता की मर्जी और बड़े-बुजुर्गों की स्वीकृति से ही होते थे। व्यक्तिगत सौन्दर्य, अन्तरंग साहचर्य, समान रुचि आदि से उस समय भी स्त्री-पुरुष में परस्पर सम्भोग की इच्छा उत्पन्न होती थी, पर उनके लिए इस बात का कोई मतलब नहीं होता था कि वे किसके साथ यह अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं।

मध्ययुग में भी स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम और विवाह के बारे में यही स्थिति बनी रही। सामन्ती उत्पादन-सम्बन्ध के अनुरूप विवाह एक ऐसा सामाजिक सम्बन्ध था जिसमें लड़की केवल भोग्या ही हो सकती थी और विवाह-सूत्र में बँधने वाले जोड़े के स्वतंत्र निर्णय का कोई मतलब नहीं था। पुरुष के लिए पत्नी वंश चलाने का निमित्त-मात्र थी और काम-तृप्ति के लिए वह बिना किसी प्रेम के दासी या वेश्या के पास जा सकता था। मध्यकाल में यदि आज के यौन-प्रेम का प्रारम्भिक रूप कहीं दीखता भी है तो वह विवाह-सम्बन्ध के विरुद्ध विद्रोह के रूप में, नाइटों के परकीया प्रेम-सम्बन्धों या विवाहेतर प्रेम-व्यापार में दीखता है। आम तौर पर तब विवाह नाइट या सामन्त और राजा या राजकुमार के लिए एक राजनीतिक मामला होता था जिसमें निजी इच्छा या आकांक्षा के बजाय सामन्तकुल या राजकुल के हित निर्णायक हुआ करते थे। यही बात मध्ययुग के नागरिकों के लिए भी लागू होती थी। शिल्प-संघों के अधिकार-पत्र और विशेष शर्तें किसी नागरिक को दूसरे शिल्प-संघों से, अपने ही संघ के दूसरे सदस्यों से और अपने मज़दूर कारीगरों और शार्गिदों से क़ानूनी तौर पर अलग रखने तथा उसके विशेषाधिकारों की हिफ़ाजत के लिए जो बनावटी सीमाएँ बनाती थीं, उसी संकीर्ण दायरे के भीतर ही उस नागरिक का विवाह होता था और वह भी व्यक्तिगत इच्छा से नहीं बल्कि पारिवारिक हित से तय होता था।

(पेज 53 पर जारी)

स्मृति शेष

मानव-संघर्ष और प्रकृति के सौन्दर्य के शब्दशिल्पी त्रिलोचन सदा हमारे बीच रहेंगे!

● अरविन्द

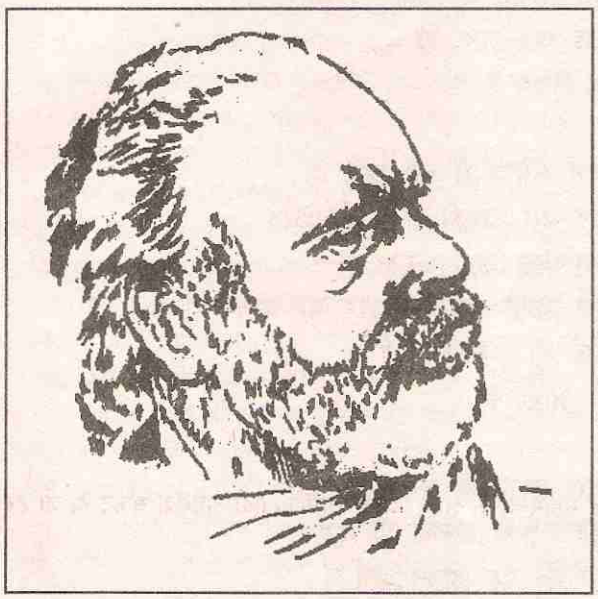

त्रिलोचन हमारे बीच नहीं रहे। विगत 9 दिसम्बर को लम्बी बीमारी के बाद उनका निधन हो गया। वे 90 वर्ष के थे। जिन्दगी की कठिन लड़ाई लड़ते हुए सतत रचनाशील त्रिलोचन लम्बे समय तक साहित्य-संसार के महारथियों द्वारा उपेक्षित रहे। पर उनकी कविताओं की शक्ति को देखकर और आठवें दशक के युवा वामपंथी कवियों में फिर से उनका बढ़ता मान देखकर मठाधीशों ने भी उन्हें मान्यता दी और अपनाने की चेष्टाएँ कीं। इस अवधि में विभिन्न स्थापित पीठों पर आचार्य पद पर बैठे होकर भी त्रिलोचन संघर्षमय अतीत से अर्जित जनसंग ऊष्मा से उर्जस्वित होकर जनपक्षधर कविताएँ लिखते रहे।

निराला की कविता की उत्तरवर्ती परम्परा में जनपक्षधर कविता की जितनी धाराओं को समाविष्ट किया जा सकता है, उनमें त्रिलोचन का कृतित्व अपने आप में एक सम्पूर्ण धारा है।

त्रिलोचन की कविताएँ जीवन, संघर्ष और सृजन के प्रति अगाध आस्था की, बुर्जुआ समाज के रेशे-रेशे में व्यक्त अलगाव (एलियनेशन) के निषेध की और प्रकृति और जीवन के व्यापक एंव सूक्ष्म सौन्दर्य की भावसंवेदी सहज कविताएँ हैं। सहजता उनकी कविताओं का प्राण है। वे जितने मानव-संघर्ष के कवि हैं, उतने ही प्रकृति के सौन्दर्य के भी। पर रीतकालीन, छायावादी और नवरूपवादी रुझानों के विपरीत प्रकृति के सन्दर्भ में भी त्रिलोचन की सौन्दर्याभिरुचि उनकी भौतिकवादी विश्वदृष्टि के अनुरूप है जो सहजता-नैसर्गिकता-स्वाभाविकता के प्रति उद्दाम आग्रह पैदा करती है और अलगाव की चेतना के विरुद्ध खड़ी होती है जिसके चलते मनुष्य-मनुष्य से कट गया है, और प्रकृति से भी।

संस्कृत की क्लासिकी परम्परा और अवधी आदि की लोक परम्परा के सकारात्मक पक्ष का जीवन्त विस्तार करती त्रिलोचन की कविताएँ ठेठ भारतीय जन की जिजीविषा, आशाओं और संघर्ष-चेतना की कविताएँ हैं। साथ ही, यूरोपीय क्लासिकी परम्परा से भी त्रिलोचन ने काफी कुछ सीखा और लिया है तथा उसे अपने कवि कर्म में रचा-पचा कर भारतीय मानसिकता के लिए सर्वथा ग्राह्य बना दिया है। सॉनेट जैसे विजातीय काव्य-रूप को हिन्दी भाषा की सहज लय और संगीत में ढालकर त्रिलोचन ने उसे एक नया संस्कार दे दिया है।

आज हिन्दी की प्रगतिशील काव्य-धारा को, तरह-तरह के आयातित और देशी नवरूपवादी भटकावों, रूढ़ियों आदि को तोड़कर आगे विकसित होने के लिए अपनी परम्परा से ऊष्मा और आवेग ग्रहण करना होगा। त्रिलोचन इसी परम्परा की एक जीवित और सतत् विकासमान धारा है। आज भी हम युवा त्रिलोचन को मुख्यतः 'धरती'के कवि के रूप में याद करते हैं। 'आह्वान' टीम की ओर से हम उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि देते हैं और उन्हें याद करते हुए उनके प्रथम संकलन 'धरती' (1945) की कुछ चुनी हुई कविताएँ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

त्रिलोचन की तीन कविताएँ

1

अभी तुम्हारी शक्ति शेष है
अभी तुम्हारी साँस शेष है
अभी तुम्हारा कार्य शेष है
    मत अलसाओ
    मत चुप बैठो
तुम्हें पुकार रहा है कोई

अभी रक्त रग-रग में चलता
अभी ज्ञान का परिचय मिलता
अभी न मरण-प्रिया निर्बलता
    मत अलसाओ
    मत चुप बैठो
तुम्हें पुकार रहा है कोई

2

पथ पर
चलते रहो निरन्तर
    सूनापन हो
    पथ निर्जन हो
    पथ पुकारता है
    गत स्वप्न हो
पथिक
चरण-ध्वनि से
दो उत्तर
  पथ पर
  चलते रहो निरन्तर

3

जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एक शक्ति हो
जैसे सरिता की अगणित लहरों में
कोई एक लहर हो
तो अच्छा है

जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी सदा सुनिश्चित
अनुपेक्षित आवश्यकता हो
जैसे किसी मशीन में लगे बहु कल-पुर्जों में
कोई भी कल-पुर्जा हो
तो अच्छा है

जिस समाज में तुम रहते हो
यदि उसकी करुणा ही करुणा
तुम को यह जीवन देती है
जैसे दुर्निवार निर्धनता
बिल्कुल टूटा-फूटा बर्तन घर किसान के रक्खे रहती
तो यह जीवन की भाषा में
तिरस्कार से पूर्ण मरण है

जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एक शक्ति हो
    उसकी ललकारों में से ललकार एक हो
    उसकी अमित भुजाओं में दो भुजा तुम्हारी
    चरणों में दो चरण तुम्हारे
    आँखो में दो आँख तुम्हारी
तो निश्चय समाज-जीवन के तुम प्रतीक हो
निश्चय हो जीवन, चिर जीवन

अमेरिकी सबप्राइम संकट : गहराते साम्राज्यवादी संकट की नयी अभिव्यक्ति

● अभिनव

2001 में शुरू हुए 'हाउसिंग बूम' (अमेरिका में आवास बाज़ार में आई अभूतपूर्व तेज़ी का दौर) के दौरान अमेरिकी संसद के कुछ मान्य सीनेटरों व राष्ट्रपति ने कहा कि अमेरिकियों को यह समझ लेना चाहिए कि देशभक्ति का अर्थ क्या है। देशभक्ति का अर्थ है जमकर ख़र्च करना और जो उपभोक्ता सामग्रियों पर ख़र्च नहीं करता वह आज के अर्थों में सच्चा देशभक्त नहीं है! अगर सीधे-सीधे उद्धृत किया जाय तो शब्द कुछ यूँ थे—'स्पेण्ड योर वे आउट ऑफ रिसेशन' (यानी, इतना ख़र्च करो कि मन्दी से बाहर निकला जा सके!) मार्क्स ने जब कहा था कि बुर्जुआ वर्ग का राष्ट्रवाद मण्डी में पैदा होता है तो उन्होंने शायद नहीं सोचा होगा कि पूँजीवादी विश्व के शीर्ष पर बैठे हुए देश का राष्ट्रपति इतने नंगे शब्दों में इस बात को स्वीकार करेगा!

2001 में डॉट-कॉम क्रैश के बाद के झटके से उबरने के लिए अमेरिका के केन्द्रीय बैंक *फेडरल रिज़र्व* या *फेड* ने ब्याज दरों को ज़बर्दस्त रूप से नीचे गिरा दिया। यह महामन्दी के दौर के बाद ब्याज दरों में की गयी सबसे बड़ी कटौतियों में से एक थी। कारण यह था कि *डॉट-कॉम* बुलबुले के फूटने के बाद शेयर मार्केटों में भारी गिरावट आनी शुरू हुई, कई निवेश बैंक दिवालिया हुए और उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में भारी कमी आने लगी। नतीजा था, एक मन्दी। लेकिन अभी यह मन्दी पूरी तरह परवान भी नहीं चढ़ी थी कि फेडरल बैंक ने ब्याज दरों में कटौती की ताकि उधार से वित्त पोषण करके उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद को उन्हीं स्तरों पर बरकरार रखा जा सके जिन पर वह पहले थी, या उनसे भी ऊपर ले जाया जा सके। *डॉट-कॉम* बुलबुले के दौरान उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में वृद्धि करने के लिए जो 'समृद्धि प्रभाव' (वेल्थ इफेक्ट) पैदा करना था उसका जरिया बना था शेयर मार्केट। इस बार तेज़ी का जरिया था *रियल एस्टेट*, यानी आवास उद्योग। घर ख़रीदने के लिए भारी पैमाने पर ऋण दिये गये। *डॉट-कॉम* बुलबुला दरअसल एक दूसरे संकट से उबरने का फौरी नुस्खा था। वह संकट था 1997-98 का पूर्वी एशियाई देशों का मौद्रिक संकट जिसमें 'एशियन टाइगर्स' कही जाने वाली सशक्त पूर्वी एशियाई अर्थव्यवस्थाओं की मुद्राएँ औंधे मुँह गिर गयी थीं। *डॉट-कॉम* बुलबुले के फूटने के बाद आए संकट से उबरने के लिए 'हाउसिंग बूम' पैदा किया गया। दरअसल, आज जो संकट *'सबप्राइम क्राइसिस'* के नाम से पूरे विश्व मीडिया पर छाया हुआ है और जिसके कारण 18 दिसम्बर को अमेरिका के सबसे बड़े निवेश बैंकों में से एक *मॉर्गन स्टैनली* को खुले तौर पर स्वीकारना पड़ा कि अमेरिका एक घातक मन्दी की ओर तेज़ी से फिसल रहा है और यह मन्दी तथाकथित 'उभरती अर्थव्यवस्थाओं' को बुरी तरह प्रभावित करेगा और कालान्तर में एक वैश्विक मन्दी का रूप ले लेगा। वह संकट इसी 'हाउसिंग बूम' के फटने के कारण आया है; ऐसा कैसे हुआ है, यह हम इस लेख में आगे देखेंगे। सितम्बर तक रॉबर्ट शिलर से लेकर जोसेफ़ स्टिग्लिट्ज़ तक जैसे अर्थशास्त्री जिस संभावित मन्दी की बात कर रहे थे वह दिसम्बर आते-आते एक हकीक़त में तब्दील होने लगी है। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि इस वित्तीय संकट ने एक बार फिर बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्तों की वैधता को पूरे ज़ोर के साथ स्थापित कर दिया है। यह और कुछ नहीं अतिउत्पादन और साम्राज्यवाद या इजारेदार पूँजीवाद के दौर में पूँजी के बढ़ते अनुत्पादक चरित्र और उसकी सट्टेबाज़ प्रवृत्ति के कारण पैदा होने वाला साम्राज्यवादी आर्थिक संकट है, जो हर नये चक्र के साथ और अधिक गहराता जा रहा है और पूरी दुनिया को एक नयी उथल-पुथल की ओर धकेल रहा है। इस लेख में हम सबप्राइम संकट के जरिये अमेरिकी और मोटे तौर पर पूरी विश्व अर्थव्यवस्था के गहराते आर्थिक संकट के चरित्र, कालानुक्रम, उसकी दिशा और उसके भविष्य पर एक निगाह डालेंगे और उसे समझने का प्रयास करेंगे और साथ ही यह प्रदर्शित करेंगे कि यह साम्राज्यवाद के गहराते संकट और उसके अवश्यंभावी अंत का एक दिशा-संकेतक ही है।

सबप्राइम ऋण क्या है?

सबप्राइम संकट का रिश्ता सबप्राइम ऋण से है। अमेरिका में ऋणों को मानक तय करने वाले संस्थानों और बैंकों तथा वित्तीय मामलों पर केन्द्रित पत्रिकाओं ने कई श्रेणियों में बाँटा है। सबसे ऊँची श्रेणी होती है *'एएए'* ऋण या प्राइम ऋण जिसमें जोखिम सबसे कम होता है। यानी, जिसके ब्याज सहित चुकता होने में न्यूनतम सन्देह है। इसके बाद, आती है 'ऑल्ट-ए' या 'ऑल्टरनेटिव ए' श्रेणी, जो इससे थोड़ा अधिक जोखिम वाले ऋण होते हैं। इसमें भी ऋण लेने वाले की जाँच आदि की जाती है, उसके दस्तावेज़ों को देखा जाता है। इसके बाद आती है 'सबप्राइम' ऋण की श्रेणी। यह सबसे ख़तरनाक किस्म के ऋण होते हैं। इसमें ऋण लेने वाले की भरोसेमन्दी की पूरी तरह जाँच

नहीं की जाती है और उन लोगों को भी ऋण दिया जाता है जिनके उधार लेने का इतिहास और बैंक खाते की क्रेडिट हिस्टरी उनको ऋण की पात्रता से वंचित करती है। इसके बदले में उनपर अत्यधिक ब्याज लगाया जाता है। यह ब्याज कई मामलों में फिक्स्ड यानी स्थिर नहीं होता बल्कि वह परिवर्तनीय होता है। इसे ए.आर.एम (*एड्जस्टेबल रेट मॉर्टगेज*) भी कहा जाता है। और ऋण की पूरी अवधि में ब्याज दरें 2 प्रतिशत से 30 प्रतिशत तक जा सकती हैं। ऋणदाता सबप्राइम ऋण में निहित जोखिम से निपटने के लिए भारी ब्याज दरें लगाता है। जब तक सबप्राइम ऋण देने वालों को फेडरल रिज़र्व से कम ब्याज पर ऋण मिलता रहता है तब तक तो ब्याज दरें थोड़ी कम रहती हैं और फेड द्वारा ब्याज दरें बढ़ाए जाने के साथ ही प्रति माह ऋण की किश्त का भुगतान बढ़ता जाता है।

सबप्राइम ऋण देनेवाले और लेनेवाले दोनों के लिए ही घातक होता है। इसका कारण होता है, लेनेवाले की खराब आर्थिक स्थितियाँ और अत्यधिक ऊँची ब्याज दर। सबप्राइम ऋण कई किस्म के क्रेडिट उपकरणों का उपयोग करके दिया जाता है। इसके प्रमुख रूप हैं *सबप्राइम मॉर्टगेज*, जिसमें सबप्राइम ऋण लेने वाला संपत्ति गिरवी रखकर ऋण लेता है, और सबप्राइम क्रेडिट कार्ड, जिसमें उपभोक्ता को खर्च के लिए सबप्राइम ऋण क्रेडिट कार्ड के माध्यम से दिया जाता है। सबप्राइम ऋण की शुरुआत दिखावे के लिए जनता के हित में हुई थी। यह कहा गया कि यह उन ग़रीब लोगों को भी ऋण का पात्र बना देता है जिनकी क्रेडिट हिस्टरी उनको प्राइम श्रेणी के ऋणों का अधिकारी नहीं बनाती। लेकिन यह नहीं बताया गया कि इसमें कई बार ब्याज दर इतनी अधिक बढ़ सकती है कि उसकी एक किश्त मूलधन से भी अधिक हो जाए, या फिर जिस संपत्ति को गिरवी रखकर वह ऋण लिया गया है, उस संपत्ति की कीमत से भी अधिक हो जाए। लोगों को फँसाने के लिए पहले कुछ महीने ब्याज दरें कम रखी जाती हैं ताकि लोग सबप्राइम ऋण लेते रहें। और उसके बाद ब्याज दरें बढ़ना शुरू होती हैं और यह दरें कई बार 30 प्रतिशत तक पहुँच जाती हैं।

सबप्राइम ऋण की शुरुआत का कारण था वित्तीय बाज़ार की बढ़ती अस्थिरता और एक भारी आबादी का विकास जिसकी क्रेडिट रेटिंग इतनी नहीं थी कि उन्हें ऋण देने के काबिल समझा जाय। अमेरिका का संस्थान *फिको (FICO) क्रेडिट ब्यूरो* रिस्क स्कोर देता है जिसके अनुसार किसी व्यक्ति की ऋण की पात्रता निर्धारित होती है। 25 प्रतिशत अमेरिकियों का क्रेडिट स्कोर 620 अंक से कम है, जो उन्हें प्राइम ऋण या ऑल्ट-ए ऋण की श्रेणी से बाहर कर देता है। लेकिन अमेरिकी वित्तीय बाज़ार 25 प्रतिशत अमेरिकी जनता को छोड़ नहीं सकता। दूसरी बात यह कि उसके पास पूँजी की इतनी प्रचुरता है कि प्राइम व ऑल्ट-ए ऋण का बाज़ार संतृप्त होने के बाद भी उसके पास भारी मात्रा में पूँजी बच जाती है। अब इस पूँजी का संचरित कराना उसके लिए अस्तित्व का प्रश्न होता है। इसलिए एक नये ऋण उपकरण का आविष्कार किया गया–सबप्राइम लोन!! और उसे इस लफ्फाजी भरे तर्क की चाशनी में लपेटा गया कि यह ग़रीब लोगों को भी ऋण की पात्रता के दायरे में लाकर एक क्रान्तिकारी काम को अंजाम देता है।

मौजूदा सबप्राइम संकट का कारण दरअसल सबप्राइम मॉर्टगेज बाज़ार में आया संकट है। सबप्राइम ऋण का यह सबसे प्रमुख उपकरण है। इसमें किसी संपत्ति को सिक्योरिटी के रूप में रखकर ऐसे व्यक्तियों को ऋण दिया जाता है जो एएए श्रेणी का या ऑल्ट-ए श्रेणी का ऋण प्राप्त करने के लिए पूरे किये जाने वाले मानकों को पूरा नहीं करते। *मूडीज़ इन्वेस्टर्स* सर्विस के प्रमुख अर्थशास्त्री जॉन लांस्की का कहना है कि 2004 से 2006 तक अमेरिका में दिये गये सारे ऋणों में से 21 प्रतिशत सबप्राइम ऋण थे। 2006 में सबप्राइम मॉर्टगेज के तहत 600 बिलियन डॉलर का ऋण दिया गया जो अमेरिका के कुल आवास ऋण बाज़ार का 20 प्रतिशत था। इसी आँकड़े से सबप्राइम ऋण की पहुँच को समझा जा सकता है। सबप्राइम ऋण के उदय को समझने के लिए यह समझना बेहद ज़रूरी है कि द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में ऋण का एक माल के रूप में विकास हुआ और इसी के साथ विकसित हुआ एक ऋण बाज़ार। वित्तीय पूँजी के विस्तार के साथ यह होना लाज़िमी था। इसका प्रमुख उदाहरण *डिबेंचर इशू* को माना जा सकता है जिसमें कम्पनियाँ लोगों से ऋण लेती हैं, जिसके बदले में वे उन्हें ब्याज लेने और ऋण के भुगतान प्राप्ति का अधिकार देती हैं। लाभ के दौर में तो यह उपकरण निवेशकों के लिए फायदेमन्द होता है, लेकिन मन्दी के दौर में यह दोगुना नुकसानदेह साबित होता है। ऋण की इस खरीद-फरोख्त में वित्तीय बाज़ार में पूँजी की प्रचुरता के साथ भारी बढ़ोत्तरी हुई है। पूँजी के बाज़ार पर भी हर बाज़ार की तरह संतृप्त होने का नियम लागू होता है। यहाँ भी लाभ के दर में लगातार गिरावट की प्रवृत्ति होती है। यही कारण है, कि प्राइम ऋण के बाज़ार के संतृप्त होने के बाद अब बदहवासी में निवेश बैंकों और मॉर्टगेज बैंकों ने अन्धाधुन्ध सबप्राइम ऋण दिये। यह फौरी मुनाफ़े के लिए और संकट को रोकने के लिए एक ललचा देने वाला रास्ता था। इस बदहवासी में ही बैंकों ने ऋणों का पैकेज बनाकर बेचने के तमाम नायाब तरीके निकाले। इन निवेश बैंकों ने अन्य वित्तीय संस्थाओं जैसे *हेज फण्ड्स*, बैंकों और बीमा कम्पनियों को ये ऋण पैकेज बेचे। इससे यह उम्मीद की गयी कि जोखिम का वितरण हो जाएगा और विस्फोटक कचरा सामग्री (बुरे जोखिम भरे ऋण) किसी एक जगह पर एकत्र नहीं होंगे। इससे कोई एक बैंक बुरे ऋणों के संकट के तहत ध्वस्त नहीं होगा। लेकिन ऋण को दूसरों के मत्थे डालने के इस चमत्कारी मंत्र ने कई ऋणदाताओं को अपने ऋण देने के मानकों को बेहद ढीला कर देने के लिए प्रेरित किया। सबप्राइम ऋणों को और आकर्षक बनाने के लिए उनकी पैकेजिंग अन्य प्राइम व ऑल्ट-ए ऋणों के साथ की गयी और इन ऋण उत्पादों को *कोलेटरल डेट ऑब्लिगेशन* (संपार्श्विक ऋण देनदारी) कहा गया। इन ऋणों को

तमाम संस्थानों द्वारा अच्छी क्रेडिट रेटिंग दी गयी और फिर इन निवेश बैंकों ने इन्हें जमकर हेज फण्ड्स और बैंकों को बेचा। लेकिन जैसे ही सबप्राइम ऋण की ब्याज दर बढ़नी शुरू हुई और इन ऋणों के भुगतान का असफल होना शुरू हुआ वैसे ही इन हेज फण्ड्स और बैंकों को पता चला कि जिन ऋणों को वे कम जोखिम वाला समझ रहे थे वे वित्तीय कचरा थे और फिर शुरू हुआ बैंकों और हेज फण्ड्स के दीवालिया होने का सिलसिला और सबप्राइम संकट का प्रारंभ!

सबप्राइम संकट

सबप्राइम संकट का आरंभ 2006 के उत्तरार्द्ध में, मोटा-मोटी अगस्त में हुआ। सबप्राइम ऋण लेने वाले ऋण के ब्याज का भुगतान करने में स्वयं को असमर्थ पाने लगे और फिर शुरू हुआ नीलामियों (फोरक्लोज़र्स) का सिलसिला। नतीजा यह हुआ कि सबप्राइम ऋण देने वाले तमाम बड़े बैंक एक-एक करके धराशायी होने लगे। 100 से अधिक सबप्राइम ऋणदाताओं ने या तो अपने आपको दीवालिया घोषित कर दिया या फिर वे बंद हो गये। इसमें न्यू सेंचुरी फाइनेंशियल कॉर्पोरेशन भी शामिल था जो देश का दूसरा सबसे बड़ा सबप्राइम ऋणदाता था। इन कंपनियों के औंधे मुँह गिरने के कारण अमेरिका का 6.5 ट्रिलियन (दस खरब) डॉलर का मॉर्टगेज बाज़ार ढह गया और इसका अमेरिकी आवास बाज़ार और पूरी अर्थव्यवस्था पर भयंकर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। यह संकट अब इस हद तक पहुँच गया है कि तमाम अर्थशास्त्री इसे एक मन्दी का नाम दे रहे हैं और अमेरिकी अर्थव्यवस्था के भयंकर रूप से संकटग्रस्त होने की घोषणा कर रहे हैं।

इस संकट का कारण यह था कि भारी राष्ट्रीय ऋण और व्यापार घाटे के कारण अमेरिकी केन्द्रीय बैंक फेडरल रिज़र्व को ब्याज दरें बढ़ानी पड़ीं। नतीजतन, निवेश बैंकों और मॉर्टगेज बाज़ार के बड़े खिलाड़ियों को अपनी ब्याज दरें बढ़ानी पड़ीं। इसके कारण सबसे भारी चोट पड़ी सबप्राइम ऋण लेने वालों को क्योंकि वे परिवर्तनीय ब्याज दर के तहत ऋण प्राप्त करने वाले लोग थे। यह दरें तेज़ी से ऊपर गयीं और नतीजे के तौर पर भारी संख्या में सबप्राइम ऋण लेने वाले लोगों ने ऋण के भुगतान में अपनी असमर्थता जता दी। घरों की नीलामी शुरू हुई। लेकिन सबप्राइम संकट के कारण जो नीलामियाँ शुरू हुईं उसने अमेरिका के 'हाउसिंग बूम' का भी निर्णायक रूप से क्रिया-कर्म कर दिया जो पहले से ही संकट का शिकार था। 'हाउसिंग बूम' के पैदा होने और ख़त्म होने की कहानी को हम एक अलग उपशीर्षक के तहत बयान करेंगे। हाउसिंग बूम के ख़त्म होने के कारण घरों की कीमत में भारी कमी आनी शुरू हुई और लोगों की मकान खरीदने में दिलचस्पी ख़त्म होने लगी। यानी कि अब उन नीलामियों का कोई फ़ायदा नहीं था जो सबप्राइम के कारण होनी शुरू हुई क्योंकि कोई ख़रीदार ही नहीं था। परिणामतः, पूँजी बाज़ार के खिलाड़ियों की पूँजी फँसनी शुरू हो गयी और एक *लिक्विडिटी क्रंच* की स्थिति पूँजी बाज़ार में पैदा हो गयी। *लिक्विडिटी* या तरलता का अर्थ होता है अर्थव्यवस्था में पूँजी की मौजूदगी। तरलता में कमी के कारण कई बड़े निवेश बैंक असमाधेयता *(इनसॉल्वेंसी)* का शिकार हो गये और एक *क्रेडिट क्रंच* (ऋण में कमी) पैदा हो गयी। बड़े निवेश बैंकों और हेज फण्ड्स के दीवालिया होने के कारण स्टॉक मार्केट में भी पतन का ख़तरा पैदा हो गया। कारण यह था कि हेज फण्ड्स और सबप्राइम ऋण लेने वाले सभी निवेशक या तो पूँजी की कमी का या फिर असमाधेयता और दीवालियेपन का शिकार हो गये और उनके शेयरों के दाम गिरने लगे। हेज फण्ड्स में निवेश करने वाले लोगों ने अपने शेयर बेचने शुरू कर दिये। कोई निवेश बैंक या हेज फण्ड्स नहीं जानता था कि उसने जो *कोलेटरल डेट ऑब्लिगेशन* वाले बॉण्ड्स खरीदे हैं उसमें कितना जहरीला वित्तीय कचरा है, यानी उसमें कितना सबप्राइम ऋण है। इन निवेश संस्थानों ने अपने जोखिम का नये सिरे से मूल्यांकन शुरू किया, या कहा जाय कि वे ऐसा करने को बाध्य हो गये। उपभोक्ताओं का भरोसा डगमगा गया और उन्होंने और ख़र्च करने और अपनी उपभोक्ता ख़रीदारियों को वित्त पोषित करने की क्षमता खो दी। मतलब यह कि उपभोक्ता सामग्रियों पर ख़र्च में भारी कमी आनी शुरू हो गयी। और अमेरिकी अर्थव्यवस्था के लिए तो यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण था जिसके कुल सकल घरेलू उत्पाद का 70 प्रतिशत हिस्सा उपभोक्ता खरीदारियों से आता है। इससे स्थिर आय, *इक्विटी* और *डेरिवेटिव* बाज़ार में अस्थिरता बढ़ी। इसका असर पूरी अर्थव्यवस्था पर नज़र आना शुरू हो गया है। जो लोग शुरू में यह कह रहे थे कि सबप्राइम संकट वित्तीय पूँजी बाज़ार का संकट है इसलिए इससे अमेरिकी अर्थव्यवस्था जल्दी ही उबर जाएगी और इसका वास्तविक अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं होगा, उन्हें काफ़ी शर्मिंदगी का सामना करना पड़ रहा है। आज एकदम साफ़ हो चुका है कि सबप्राइम संकट अतिउत्पादन और पूँजी की प्रचुरता का ऐसा संकट है जिसका प्रभाव अमेरिका की वास्तविक अर्थव्यवस्था पर ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया की वास्तविक अर्थव्यवस्था पर भी पड़ने वाला है।

सबप्राइम संकट की एक साम्राज्यवादी वित्तीय संकट के रूप में समझ विकसित करने के लिए हमें डॉट-कॉम बुलबुले के समय से अमेरिकी अर्थव्यवस्था के पूरे ऐतिहासिक विकास पर निगाह दौड़ानी होगी। अगर यह समझ लिया जाय कि कहानी यहाँ तक पहुँची कैसे तो यह भी समझा जा सकता है कि यह जाएगी कहाँ।

अमेरिकी अर्थव्यवस्था का बूम-बस्ट चक्र (1997-2005)

डॉट-कॉम बुलबुला सट्टेबाज़ी के कारण पैदा हुआ एक स्टॉक मार्केट बूम था। यह मोटे तौर पर 1990 के दशक के मध्य से शुरू हुआ और 2001 तक बना रहा। इसी दौर में ई-कॉमर्स और ई-बिज़ आदि जैसे जुओं की शुरुआत हुई। इस बुलबुले के

पैदा होने के पूरे दौर में पश्चिमी विकसित पूँजीवादी देशों के स्टॉक मार्केट में भारी उछाल आया जिसका कारण था इण्टरनेट व सम्बन्धित सेक्टर में आयी वृद्धि। इस पूरे दौर ने नये किस्म की कम्पनियों के आश्चर्यजनक उभार को देखा जिन्हें डॉट-कॉम कम्पनियाँ कहा गया। इन कम्पनियों की वृद्धि के कारण शेयरों की बढ़ती कीमत और सट्टेबाज़ी या स्पेक्यूलेशन के कारण एक ऐसा माहौल पैदा हुआ जिसमें कम्पनियों ने वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश करना कम कर दिया और स्टॉक मार्केट से तुरत-फुरत मुनाफ़ा कमा लेने की तकनीक का इस्तेमाल करना शुरू किया। लेकिन कोई ठोस आधार न होने के कारण 2001 में डॉट-कॉम बुलबुला फूटा और इसने 2000 के दशक की मन्द मन्दी का श्रीगणेश कर दिया।

डॉट-कॉम कम्पनियों का पूरा फण्डा था इण्टरनेट तकनोलॉजी के आधार पर आइडिया बेचना और नेटवर्क इफेक्ट पैदा करके अपनी बाज़ार हिस्सेदारी को बढ़ाना। इन कम्पनियों का मानना था कि शुरुआत में एक निश्चित अवधि तक हानि में रहकर काम करते हुए डॉट-कॉम तकनोलॉजी द्वारा ब्राण्ड जागरूकता पैदा की जाय और फिर अपने उत्पादों और सेवाओं के लिए लाभदायक कीमतें वसूली जाय। इस हानि की अवधि के दौरान ये कम्पनियाँ वेंचर पूँजी पर निर्भर करती थीं, जिसका अर्थ था शुरू करने के लिए आरंभिक पूँजी। यह पूँजी प्राप्त करना 1997-98 के समय आसान हो गया था क्योंकि 1997-98 के पूर्वी एशियाई संकट के उत्तर-प्रभावों से निपटने के लिए फ़ेड ने ब्याज दरें बेहद गिरा दी थीं। इसके अलावा ये कम्पनियाँ निर्भर करती थीं अपने शेयर को अच्छे से अच्छे दाम पर बेचने के लिए जिसके लिए सट्टेबाज़ों को जमकर खिलाया जाता था। ये शेयर एकदम नये किस्म के थे जिनका वास्तकविक संपत्ति से कोई लेना-देना नहीं था। वास्तविक अर्थव्यवस्था में काम करने वाली कम्पनियों के शेयरों के दाम उनकी वास्तविक संपदा से मेल नहीं खाते। लेकिन डॉट-कॉम कम्पनियों की तो कई बार कोई वास्तविक सम्पदा होती ही नहीं थी और फिर भी उनके शेयर आसमान छू रहे थे! कई कम्पनियाँ इस शेयर बाज़ार बुलबुले के कारण कागज़ों पर अरबपति-खरबपति हो गयीं। मार्च 2000 इस डॉट-कॉम बुलबुले के फूलने का चरमोत्कर्ष था जब नास्डाक सूचकांक अपने शीर्ष पर पहुँचा। डॉट-कॉम बुलबुले के फूटने की शुरुआत इसी के ठीक बाद हुई। इसके तात्कालिक कारणों के रूप में लोगों ने अमेरिकी सरकार और माइक्रोसॉफ्ट के बीच हुए मुकदमे और *वाई2के* समस्या को भी गिनाया था लेकिन असल कारण कुछ और था। भावी मुनाफ़े की उम्मीद में तमाम इण्टरनेट सम्बन्धित सेक्टरों में सैकड़ों कम्पनियाँ लगातार हानि में काम कर रही थीं। उनका सहारा था फेड की कम ब्याज दर। लेकिन नेटवर्क प्रभाव के जरिये सभी कम्पनियाँ कभी मुनाफ़ा कमा ही नहीं सकती थीं। हर सेक्टर में ज़्यादा से ज़्यादा एक या दो विजेता ही हो सकते थे जो प्रचार और सट्टेबाजी के जरिये अपने उपभोक्ताओं के आधार को हानि में रहते हुए इस हद तक विस्तारित कर पाते कि बाद में उससे कहीं ज़्यादा मुनाफ़ा कमाया जा सके। 2001 आते-आते जिस भावी मुनाफ़े की उम्मीद में तमाम डॉट-कॉम कम्पनियाँ काम कर रही थीं, वह असलियत नहीं बन पाया और वेंचर पूँजी भी समाप्त हो चुकी थी। नतीजतन, सैकड़ों कम्पनियाँ दीवालिया हुईं, छँटनियाँ हुईं, तालाबन्दियाँ हुईं और स्टॉक मार्केट भारी मन्दी का शिकार होने लगा। तरलता में एक भारी कमी आयी और पूरी की पूरी अर्थव्यवस्था एक गम्भीर मन्दी की ओर बढ़ने लगी।

हाउसिंग बूम

डॉट-कॉम बुलबुले के फूटने के कारण पैदा हुए संकट से निपटने के लिए फेडरल बैंक ने ब्याज दरों को ऐतिहासिक रूप से निम्न स्तरों तक गिरा दिया। यहीं से शुरू होती है 'हाउसिंग बूम' की कहानी। ज़रा येल के अर्थशास्त्री रॉबर्ट शिलर के इस कथन पर निगाह डालें–"जैसे ही शेयरों की कीमत गिरी, रियल एस्टेट उस सट्टेबाज़ी के पागलपन के लिए एक प्राथमिक निकासी द्वार बन गया, जिसे स्टॉक मार्केट ने शुरू किया था। अपने हाल ही में हासिल की गयी प्रतिभा का ये जुआरी इससे बेहतर और कहाँ इस्तेमाल कर सकते थे?....आजकल घर खरीदने से बड़ा राष्ट्रीय उन्माद सिर्फ़ पोकर है..."।

आज जिस परिघटना को हम 'हाउसिंग बूम' के नाम से जानते हैं वह अमेरिकी आवास बाज़ार में मोटे तौर पर 2001 से 2005 तक अस्तित्वमान रही और 2005 में उसमें उतार शुरू हुआ। आवास बाज़ार में तेज़ी पूरे अमेरिका में समान रूप से नहीं आयी। विशेष रूप से इसका केन्द्र थे कैलीफोर्निया, फ्लोरिडा, न्यूयॉर्क, शिकागो, डेट्रॉइट, और बॉसवॉश मेगालोपॉलिस। इसके अतिरिक्त भी कई अन्य इलाकों में इस तेज़ी का प्रभाव देखा गया। आवास बाज़ार में आने वाली तेज़ी कोई नयी परिघटना नहीं थी। यह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से चक्रीय रूप से अमेरिकी अर्थव्यवस्था में आती-जाती रही है। लेकिन इस बार यह सबसे बड़े पैमाने पर आयी थी और इसमें कुछ अस्वस्थ और अस्वाभाविक था। इस बुलबुले के पैदा होने के कई कारण थे। इनमें ऐतिहासिक रूप से निम्न ब्याज दरें, ऋणदाताओं द्वारा बेहद कम ब्याज दरों पर और बिना जाँच-पड़ताल के बड़े पैमाने पर दिया जाने वाला खराब ऋण, और प्रचार और सट्टेबाज़ी द्वारा घर खरीदने के लिए पैदा किया गया उन्माद प्रमुख थे। लेकिन यह सारा गोरखधन्धा क्यों किया गया था, यह जानना दिलचस्प होगा। डॉट-कॉम बुलबुले के फटने के बाद अमेरिकी अर्थव्यवस्था जिस मन्दी की ओर बढ़ रही थी उसके बारे में हम बता चुके हैं। इस मन्दी के आसन्न होने के कारण उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में कमी आने लगी थी। इसी कमी को रोकने के लिए लोगों के बीच एक ऐसा माहौल पैदा करना ज़रूरी था जिससे कि उपभोक्ता ख़र्च को गिरने से रोका जा सके। ऐसा किया जा सकता था 'वेल्थ इफेक्ट' पैदा करके और सहज प्राप्य पूँजी

मुहैया कराके।

पहली बात तो यह है कि अमेरिकियों में मकान के मालिकाने के प्रति एक आसक्ति वहाँ की व्यवस्था ने लम्बे समय के दौरान पैदा की है। ज्ञात हो कि अमेरिकी बड़े पूँजीपति वर्ग में रियल एस्टेट वालों की हमेशा से ही एक शक्तिशाली लॉबी रही है। नतीजतन, एक आम मध्यवर्गीय अमेरिकी नागरिक घर का मालिक होना बहुत बड़ी नेमत समझता है। लेकिन इस बुलबुले को बनाने के लिए पहले यह इच्छा एक उन्माद में तब्दील की गयी और फिर पागलपन में। यहाँ तक कि तमाम सटोरियों की पत्रिकाओं तक ने 2005 के आरम्भ होते-होते रियल एस्टेट बाज़ार को "झागदार" (फ्रॉथी) बताना शुरू कर दिया। 2007 में *फोर्ब्स* पत्रिका ने एक लेख में लिखा, *"यह समझने के लिए कि अमेरिका में घर खरीदने का उन्माद सभी संजीदा सच्चाइयों से कोसों दूर है, आपको बस मौजूदा सबप्राइम ऋण संकट पर एक निगाह डालने की आवश्यकता है...जैसे-जैसे ब्याज दरें और उसके साथ मॉर्टगेज भुगतान चढ़ने शुरू हुए हैं, वैसे-वैसे कई नये मालिकों को अपनी ज़रूरतों को पूरा करने में दिक्कतें पेश आ रही हैं...ये ऋण लेने वाले उससे भी बुरी स्थिति में पहुँच गये हैं जिसमें वे ऋण लेने से पहले थे।"*

दूसरी बात यह है कि अमेरिका में आवास में निवेश करने को ज़्यादा भरोसेमन्द माना जाता है। इस रूप में नहीं कि यह आपको रहने की जगह देगा, बल्कि इस रूप में कि यह एक लाभदायक और भरोसेमन्द एसेट (सम्पदा) है जिसकी कीमत समय के साथ बढ़ेगी। साथ ही यह तुलनात्मक रूप से जोखिम से मुक्त निवेश है। यह कहा जाता है कि शेयर की तरह मकानों की कीमत अस्थिर और गैर-भरोसेमन्द नहीं होती है। इसके अतिरिक्त, महामन्दी के बाद के दौर से हाउसिंग बूम के समाप्त होने तक अमेरिका में मकानों की दरों में कभी गिरावट नहीं आयी थी। इसलिए भी लोग मकान में पैसा लगाना शेयर मार्केट में पैसा लगाने से बेहतर समझने लगे क्योंकि डॉट-कॉम बुलबुले के फूटने और 1997-98 के पूर्वी एशियाई मौद्रिक संकट के बाद निवेशकों ने यह समझ लिया था कि शेयर बाज़ार अधिक से अधिक अस्थिर और आवारा होता जा रहा है। आवास में निवेश ठोस और भरोसेमन्द प्रतीत होता था। लेकिन आवास बाज़ार में तेज़ी की समाप्ति के बाद से यह विश्वास डगमगा चुका है। बहरहाल, इसने हाउसिंग बुलबुले को पैदा करने में काफ़ी योगदान दिया।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस यक़ीन पर भी सवाल उठाया है कि पूरी बीसवीं शताब्दी में (महामन्दी के दौर को छोड़कर) आवासीय कीमतों में लगातार भारी बढ़ोत्तरी होती रही है। रॉबर्ट शिलर ने दिखलाया है कि 1890 से 2004 के बीच मुद्रास्फीति को समायोजित करने के बाद आवास की कीमतों में मात्र 0.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। 1940 से 2004 के बीच वृद्धि 0.7 प्रतिशत रही है।

हाउसिंग बूम के पीछे तीसरा कारण था सट्टेबाज़ी। जैसे ही 2000-2001 में आवासीय कीमतों में बढ़ोत्तरी शुरू हुई, जिसका कारण फ़ेड द्वारा ब्याज दरों में नाटकीय कटौती था, वैसे ही सट्टेबाज़ों द्वारा घरों की खरीद में भी भारी वृद्धि हुई। कई अर्थशास्त्रियों ने उस समय ही आने वाले समय में भारी क्रैश की चेतावनी दे दी थी। उनका कहना था कि घरों की आसमान छूती कीमत का कारण उनके वास्तविक मूल्य में वृद्धि नहीं बल्कि सट्टेबाज़ी या स्पेक्यूलेशन है। मार्च 2006 में *कण्ट्रीवाइड फाइनेंशियल* के सीईओ एंजेलो मोत्सिलो ने कहा कि साल भर के भीतर घरों की कीमतों में 30 प्रतिशत तक की गिरावट आने की पूरी सम्भावना है क्योंकि घर अपनी वास्तविक कीमत पर नहीं है और सट्टेबाज़ी के बुलबुले की हवा निकलते ही पूरा का पूरा आवासीय उद्योग अमेरिका के ही नहीं बल्कि विश्व के पैमाने पर एक लम्बी मन्दी का शिकार हो जाएगा। सट्टेबाज़ी को बढ़ाने के लिए ज़िम्मेदार एक कारक फेड द्वारा लम्बे समय तक लक्ष्य ब्याज दर को 1 प्रतिशत पर रखना भी था जिसने सटोरियों का मनोबल बढ़ाने का ही काम किया। इसके लिए तत्कालीन फेड अध्यक्ष व अर्थशास्त्री एलन ग्रीनस्पैन को दोषी ठहराया जाता है। लेकिन पूँजीवाद के पूँजीवादी समालोचक यह नहीं समझ पाते हैं कि इसमें श्रीमान ग्रीनस्पैन की कोई ग़लती नहीं थी। दरअसल, अगर पूरी अर्थव्यवस्था को डॉट-कॉम के गुब्बारे के फटने के बाद डूबने से बचाना था तो बाज़ार में बड़ी मात्रा में पूँजी इंजेक्ट करके निवेश को बढ़ावा देना फेड की मजबूरी थी। यह सच है कि इससे संकट सिर्फ निलम्बित ही हो सकता था। लेकिन पूँजीवाद और कुछ कर भी तो नहीं सकता!

चौथा कारण था मीडिया द्वारा रियल एस्टेट से घूस खाकर लोगों में घर खरीदने के प्रति एक उन्माद और पागलपन पैदा करना। 2005 से 2006 के बीच ऐसे टेलीविज़न कार्यक्रमों में भारी वृद्धि हुई जो घर को खरीदने के लिए लोगों को उकसाते थे। अमेरिका में ऐसी किताबों की भरमार हो गयी जो मकान को सर्वश्रेष्ठ सम्पदा घोषित करने लगीं। इसमें रियल एस्टेट लॉबी द्वारा फेंकी गयी हड्डियों को चबा-चबाकर गुज़ारा करने वाले अर्थशास्त्री डेविड लेरियाह की किताब *व्हाई दि रियल एस्टेट बूम विल नॉट एण्ड* प्रमुख थी। हालाँकि फेड के अध्यक्ष बेन बर्नाके द्वारा 2006 में हाउसिंग बूम की समाप्ति की घोषणा के बाद यही लेरियाह यह मानने को मजबूर हुए कि एक बुलबुला पैदा किया गया था जिसे हमेशा के लिए नहीं चलाया जा सकता था और बाज़ार करेक्शन तो होना ही था। लेरियाह *नेशनल एसोसियेशन ऑफ रियाल्टर्स* के पैसों पर पलने वाला एक कुख्यात अर्थशास्त्री है जिसका काम ही रियल एस्टेट के मगरमच्छों का हित साधने वाली सट्टेबाज़ियों को अपने सिद्धान्तों से बढ़ावा देना है। हाउसिंग बूम की समाप्ति के बाद इन्हें अमेरिकी अर्थशास्त्र का जोकर कहा जाने लगा है!

लेकिन ये चारों कारण सहायक कारण थे। हाउसिंग बूम के असल कारण तो मुख्य रूप से दो थे।

पहला, 2001 में डॉट-कॉम क्रैश के झटके को सोखने के लिए क़दम उठाना। 2000 में *नास्डाक* सूचकांक में डॉट-कॉम

(पेज 45 पर जारी)

स्मृति संकल्प यात्रा के तहत देश के अलग-अलग हिस्सों में कार्यक्रम जारी

23 मार्च, 2005 को भगत सिंह और उनके साथियों के 75वीं शहादत वर्ष के आरम्भ पर शुरू की गई स्मृति संकल्प यात्रा के तहत देश के विभिन्न क्रान्तिकारी संगठन पिछले दो वर्षों से भगतसिंह के उस सन्देश पर अमल कर रहे हैं जो उन्होंने जेल की कालकोठरी से नौजवानों को दिया था; कि छात्रों और नौजवानों को क्रान्ति की अलख लेकर गाँव-गाँव, कारखाना-कारखाना, शहर-शहर, गन्दी झोपड़ियों तक जाना होगा। इस अभियान के दौरान इन जनसंगठनों ने जो भी जनकार्रवाइयाँ की हम उसका एक संक्षिप्त ब्यौरा देते रहे हैं और इस बार भी यहाँ दे रहे हैं। जिन इलाकों में अभियान की टोलियों ने मुहिम चलाई उनमें उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद, लखनऊ, गोरखपुर, वाराणसी, कानपुर, नोएडा, ग़ाज़ियाबाद, हापुड़; पंजाब में जालंधर, लुधियाना, संगरूर, अम्बाला आदि जैसे शहर और साथ ही दिल्ली समेत पूरा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र भी शामिल है। इनमें से कुछ स्थानों की अभियान सम्बन्धी रिपोर्टें हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।

इस 23 मार्च को इस यात्रा के तीन साल पूरे हो जाएँगे। यह यात्रा भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष के समापन पर 28 सितम्बर, 2008 को ख़त्म होगी। इस अवसर पर दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की देश के अलग-अलग हिस्सों में मौजूद इकाइयाँ विशेष कार्यक्रम करेंगी। इस अंक के आने तक देश के अलग-अलग हिस्सों में जो अभियान चल रहे हैं उनकी रिपोर्ट इस बार के अंक में दी जा रही हैं। इन तीन वर्षों के दौरान ये दोनों ही संगठन अपनी सभी गतिविधियाँ स्मृति संकल्प यात्रा के बैनर तले ही कर रहे हैं।— सम्पादक

गुजरात के हत्यारों के पर्दाफ़ाश के बाद नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन का वर्ग एकजुटता अभियान

तहलका द्वारा गुजरात नरसंहार के हत्यारों के पर्दाफाश के बाद नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ताओं ने एक वर्ग एकजुटता अभियान चलाया। इस अभियान के तहत एक पर्चा निकाला गया जिसे विशाल पैमाने पर मजदूर बस्तियों और निम्न मध्यमवर्गीय कालोनियों में बाँटा गया। इस पर्चे में साम्प्रदायिक फासीवाद के ज़हर को नेस्तनाबूद करने के लिए आम मेहनतकश जनता का आह्वान किया गया था। इस पर्चे को दिल्ली के शिव विहार, शहीद भगतसिंह कालोनी, मुकुन्द विहार, मुस्तफाबाद, अंकुर इन्क्लेव, करावलनगर, भजनपुरा, बादली, वज़ीरपुर, रोहिणी, आदि इलाकों में हज़ारों की संख्या में बाँटा गया।

इन पर्चों को नुक्कड़ों-चौराहों पर सभा आयोजित करके बाँटा जाता था। इन सभाओं में जनता को सम्बोधित करते हुए कार्यकर्ताओं ने कहा कि भारत में मौजूद भगवा ब्रिगेड हिटलर और मुसोलिनी के असली वारिस हैं। ये बर्बरता और क्रूरता में किसी भी मायने में उनसे पीछे नहीं हैं। गुजरात को ऐसे ही फासीवादी प्रयोग की ज़मीन बनाया जा रहा है। पूरे देश में फासीवादी राजनीति यहाँ धार्मिक उन्माद भड़का कर की जा रही है। ऐसे में इसका मुकाबला कांग्रेसी और संसदीय वामपंथी धर्मनिरपेक्षता नहीं कर सकती है, जिसका पूरा दायरा मध्यम वर्गों तक ही सीमित है। इसका सामना करने के लिए मेहनतकश वर्गों के जुझारू संगठन की ज़रूरत है।

इस पर्चे का तुरन्त असर यह हुआ कि इसके प्रभाव से डरकर बजरंग दल के गुण्डों ने करावल नगर में स्थित नौजवान भारत सभा के दफ्तर पर हमला किया। इसमें उन्होंने नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं को धमकाने का प्रयास किया कि वे यह पर्चा वितरण बन्द कर दें वरना उनका भी वही हाल किया जाएगा जो गुजरात में मुसलमानों का किया गया था। लेकिन इस धमकी का कोई लाभ नहीं हुआ और नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने स्पष्ट कर दिया कि ऐसी फासीवादी धमकियों का कोई असर नहीं होने वाला है और उन्हें जो करना है, वे कर लें, यह अभियान जारी रहेगा।

इसके बाद यह अभियान और ज़ोर-शोर से पूरे दिल्ली भर में चलाया गया। इस पर मेहनतकश जनता के हिस्सों से काफ़ी गर्मजोशी भरा समर्थन मिला। तमाम लोगों ने इस अभियान के प्रति जिज्ञासा और इससे जुड़ने की इच्छा जतायी।

नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन द्वारा अशफाक-बिस्मिल के शहादत दिवस (19 दिसम्बर) पर कौमी एकता मार्च

19 दिसम्बर, 2007 को काकोरी काण्ड के शहीदों की फाँसी के 80 बरस पूरे हुए। इन शहीदों में अशफ़ाकउल्ला और राम प्रसाद बिस्मिल भी शामिल थे। इन दोनों के बीच अटूट मित्रता थी। लिहाज़ा, इस दिन को कौमी एकता दिवस के रूप में भी मनाया जाता है।

इस मौके पर नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन ने एक कौमी एकता मार्च का आयोजन किया जो करीब 7 किमी लम्बा था। यह मार्च मुस्तफाबाद से शुरू होकर मुकुन्द विहार में

नौजवान भारत सभा के कार्यालय पर समाप्त हुआ। इस मार्च में करीब 80 नौजवान शामिल हुए। इन नौजवानों के हाथ में बिस्मिल और अशफाकउल्ला की तस्वीरें और तख्तियाँ थीं, जिन पर कौमी एकता के नारे लिखे थे। ये नौजवान 'मेहनतकश की वर्ग एकता–ज़िन्दाबाद', 'जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो', 'साम्प्रदायिक फासीवाद मुर्दाबाद', 'फासीवाद की कब्र खुदेगी, हिन्दुस्तान की धरती पर' जैसे नारे लगा रहे थे। इस मार्च में शामिल नौजवान कौमी एकता पर एक पर्चा भी जनता के बीच बाँटते हुए चल रहे थे।

कई जगह पास से गुज़रने वाले जवान, बूढ़े और बच्चे भी इस मार्च में शामिल हो गये और कुछ दूर तक इसके साथ चले। नुक्कड़ों-चौराहों पर जुलूस कुछ समय के लिए रुकता था और युवाओं की एक टीम आस-पास कौमी एकता का पर्चा बाँटती थी। यह मार्च पूरे इलाके में, जो कि हिन्दू-मुसलमान मिश्रित इलाका है, चर्चा का विषय बन गया। बाद में भी लोगों ने इसके बारे में जानने के प्रयास किये और इस पहल की प्रशंसा की।

दिल्ली में ब्लू लाइन बसों के कहर के ख़िलाफ़ नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन का पर्चा वितरण

दिल्ली में पिछले लम्बे समय से जारी ब्लू लाइन बसों के कहर के ख़िलाफ़ नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन ने एक पर्चा वितरण किया। इस पर्चे में बताया गया था कि सुप्रीम कोर्ट के निर्देश के बावजूद दिल्ली सरकार ब्लू लाइन बसों को हटाने का उपक्रम शुरू क्यों नहीं कर रही है। इसका कारण यह है कि अधिकांश ब्लू लाइन बसें भाजपा और कांग्रेस के नेताओं की हैं, साथ ही कई बसें नौकरशाहों और पुलिस अफसरों की भी हैं। ये नेता-नौकरशाह एक निश्चित रकम के बदले अपनी बसें ठेकेदारों को ठेके पर चलाने के लिए दे देते हैं, जो फिर से अपनी बस एक चालक और एक कण्डक्टर को ठेके पर दे देते हैं। ये चालक और कण्डक्टर फिर अपनी बस को मनचाहे तरीके से चलाते हैं और फिर दुर्घटनाएँ होती हैं। इस पर्चे का जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ा और इसके बाद ब्लू लाइन बस विरोधी अभियान को आगे बढ़ाने के लिए एक बैठक भी की गयी।

दिल्ली राज्य सरकार के तहत आने वाले अस्पतालों में कर्मचारियों के आन्दोलन में दिशा छात्र संगठन की भागीदारी

नवम्बर, 2007 में दिल्ली सरकार के तहत आने वाले पाँच बड़े अस्पतालों के कर्मचारियों ने ठेका प्रथा और निजीकरण के ख़िलाफ़ एक विशाल आन्दोलन किया। इस आन्दोलन में दिशा छात्र संगठन ने अपना समर्थन दिया। दिशा की ओर से अस्पताल की ग्रुप सी व डी की यूनियन को बताया गया कि निजीकरण और ठेकाकरण के ख़िलाफ़ हर लड़ाई में दिशा छात्र संगठन अपनी भरपूर ताक़त के साथ शिरकत करेगा। इस आन्दोलन के लिए व्यापक जनता के बीच समर्थन जुटाने के लिए एक पर्चा निकाला जिसमें जनता को असलियत से वाकिफ़ कराया गया।

दिल्ली सरकार का इरादा 1970 से पहले बने सभी सरकारी अस्पतालों में ठेकाकरण और निजीकरण करने का था। इसके ख़िलाफ़ तीसरी और चौथी श्रेणी के कर्मचारियों और नर्सों ने एक जुझारू आन्दोलन शुरू कर दिया। इस आन्दोलन पर सरकार ने 'एस्मा' लगाने की धमकी दी। मगर इसके बाद, दिशा के समर्थन के साथ, आन्दोलन जारी रहा और अन्ततः सरकार को झुकना पड़ा। दिशा छात्र संगठन के प्रवक्ता का कहना था कि जिस प्रकार के अनौपचारिकीकरण (इनफॉर्मलाइज़ेशन) की प्रक्रिया उद्योगों में मज़दूरों के ख़िलाफ़ और सरकारी उपक्रमों में निचली श्रेणी के कर्मचारियों के ख़िलाफ़ चलाई जा रही है वही प्रक्रिया छात्रों के ख़िलाफ़ विश्वविद्यालयों में सीटें कम करके और फीसें बढ़ाकर और पत्राचारीकरण के रूप में चलाई जा रही है। यह भूमण्डलीकरण-उदारीकरण की नीतियाँ ही हैं जिनकी मार मज़दूरों और छात्रों और निम्नमध्यमवर्गीय नौजवानों पर एक साथ पड़ रही है। इसके ख़िलाफ़ लड़ने के लिए एक जुझारू छात्र-युवा-मज़दूर एकता बनानी होगी। अकेले-अकेले हम नहीं लड़ सकते।

सरकार को इस आन्दोलन ने ठेकाकरण और निजीकरण के मुद्दे पर झुका दिया और आन्दोलन को एक शानदार विजय हासिल हुई।

भगतसिंह के 100वें जन्मवर्ष की शुरुआत में स्मृति संकल्प यात्रा के तहत देश के विभिन्न इलाकों में कार्यक्रम

दिल्ली। 27 सितम्बर को भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष की शुरुआत की पूर्वसन्ध्या पर नौजवान भारत सभा ने करावलनगर में एक सांस्कृतिक कार्यक्रम किया। इस कार्यक्रम में 'किस्सा-ए-आज़ादी उर्फ 60 साल की बर्बादी' का मंचन किया गया और साथ ही क्रान्तिकारी गीत पेश किये गये। नौभास के आशीष, आशू और अभिनव ने सभा को सम्बोधित किया। वक्ताओं ने भगतसिंह के जन्मशताब्दी पर भगतसिंह के विचारों को एक बार फिर से याद करने और उन्हें आगे बढ़ाने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया।

28 सितम्बर को दिशा छात्र संगठन ने नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय में एक साइकिल जुलूस निकाला। इस साइकिल जुलूस में करीब 70 छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। यह साइकिल यात्रा नॉर्थ कैम्पस के सभी कॉलेजों और फैकल्टियों में गई। यहाँ पर संक्षिप्त सभाओं का आयोजन किया गया। इन सभाओं में युवाओं को आज के हालात और सरकार के शिक्षा के प्रति रुख़ से वाकिफ़ कराते हुए बताया गया कि फीसें बढ़ाकर शिक्षा को तेज़ी से बाज़ारू माल बनाया जा रहा है। इस लक्ष्य है आम नौजवानों को कैम्पस से बाहर खदेड़ना क्योंकि उन्हीं में देश को बदलने के लिए अपने ज्ञान का उपयोग करने का जज़्बा होता है। नतीजतन कैम्पसों को नवधनाढ्यों से भरने की साज़िश की

(पेज 43 पर जारी)

राजस्थान और मध्य प्रदेश : 'हिन्दुत्व' की नयी प्रयोगशालाएँ

● कविता

गुजरात में नरेन्द्र मोदी की फिर जीत से भगवा ब्रिग्रेड के हौसले बुलन्द हैं।इससे उत्साहित होकर उन्होंने अपना फासिस्ट अभियान और तेज़ कर दिया है।

गुजरात के अलावा खासकर उन दो प्रमुख राज्यों—राजस्थान और मध्य प्रदेश में जहाँ उनकी सरकारें हैं, वहाँ तथाकथित हिन्दुत्व की नयी प्रयोगशालाओं को बनाने का काम ज़ोरों पर हैं। जहाँ एक ओर दोनों प्रदेशों के समूचे सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को भगवा रंग में रंगने की कवायदें लगातार जारी हैं वहीं अल्पसंख्यक आबादी के ऊपर सुनियोजित हमले भी किये जा रहे हैं—बिलकुल गुजरात की तर्ज़ पर। अल्पसंख्यक आबादी लगातार इस खौफ के साये तले जी रही है कि क्या यहाँ भी गुजरात 2002 दुहराया जायेगा?

पिछले 23-24 दिसम्बर को चित्तौड़गढ़ जिले के कपासन तहसील में लगभग आधे दर्जन गाँवों में सुनियोजित ढंग से निशाना बनाकर मुसलमानों के घरों, दुकानों, खेतों में खड़ी फसलों, ट्यूबवेलों और वाहनों को जला डाला गया। 'हिन्दुत्व' के रणबाँकुरों के इस पराक्रम-प्रदर्शन का कारण यह था उन्हें एक मुसलमान के खेत में गाय की हड्डियाँ मिली थीं। बस क्या था, 'धर्म रक्षकों' का खून खौला देने के लिए यह काफ़ी थ। विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल ने बन्द का आह्वान किया और इसी दौरान शौर्य के इन करतबों को अंजाम दे दिया। बाद में एक स्वतंत्र जाँच टीम को यह पता चला कि गाय का शव माँगू लाल जाट के कुएँ में पाया गया था। खेत में जो हड्डियाँ मिली थीं वे कहाँ से आयी थीं यह अभी तक रहस्य बना हुआ है।

विहिप और बजरंग दल के बन्द के दौरान ही उग्र भीड़ ने सिन्धियों का टोला नामक मुस्लिम बहुल झुग्गी में घुसने की कोशिश की जिसे पुलिस ने रोक दिया। इसपर भीड़ ने दो पुलिसकर्मियों को पकड़ लिया जिन्हें छुडाने के लिए पुलिस को गोली चलानी पड़ी थी जिसमें एक व्यक्ति की मौत हो गयी थी। एक हिन्दू युवक की मौत की आड़ में धर्मरक्षकों ने 'विधर्मियों' को सबक सिखा दिया।

स्वतंत्र जाँच टीम से पता चले तथ्य में इसके पर्याप्त प्रमाण हैं कि राजस्थान में भी गुज़रात की तर्ज पर तैयारियाँ चल रही हैं। गाँवों में मुसलमानों को चुन-चुन कर निशाना बनाया गया। हमले का निशाना बने लोगों ने जाँच टीम को बताया कि दंगाइयों के जत्थे मोटरसाइकिलों पर पट्रोल भरे कण्टेनर लेकर घूम रहे थे और उनके हाथों में मुसलमानों के घरों और दुकानों की सूचियाँ थीं।

'हिंसा पर काबू पा लेने' की पुलिसिया कवायदों के बाद अब इन गाँवों की मुसलमान आबादी वापस लौटी भी है तो वह बेहद खौफ़ में है। उनका सामाजिक बहिष्कार किया जा रहा है। उन्हें जान से मार डालने की खुल्लमखुल्ला धमकियाँ दी जा रही हैं और दहशतज़दा लोग जब पुलिस के पास रिपोर्ट दर्ज कराने जा रहे हैं तो नामदज रिपोर्ट नहीं दर्ज की जा रही है। ज़ाहिर है कि पुलिस को भी हिदायतनामे जारी किये जा चुके हैं।

इन गाँवों में जिस सुनियोजित ढंग से हमले हुए उससे स्पष्ट है कि आर. एस. एस. की फासीवादी मशीनरी जोर-शोर से सक्रिय है। 'विधर्मियों द्वारा गोमाता के वध' की अफ़वाह कुशलता से फैलायी गयी जिससे उनके वध के लिए 'हिन्दू शूरवीरों' को ललकारा जा सके और आर्थिक रूप से उनकी कमर तोड़ी जा सके। ट्यूबलबेलों और पानी का छिड़काव करने वाली प्रणाली के ध्वस्त हो जाने के कारण सैकड़ों बीघे ज़मीन पर खड़ी फसलें तबाही के कग़ार पर खड़ी हैं।

इन हमलों के डेढ़ महीने बाद भी इनमें शामिल किसी एक व्यक्ति के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की गयी है। राज्य सरकार को 'राजधर्म' की भी कोई परवाह नहीं, वह खुला भेदभाव का रवैया अपना रही है। हमले की शिकार मुसलमान आबादी अपने टूटे हुए आशियानों में किसी तरह रह रही है। सरकार से उन्हें राहत की एक फूटी कौड़ी भी नहीं मिली जबकि पुलिस फायरिंग में मारे गये हिन्दू युवक को चार लाख रुपये की सहायता आनन-फानन में पहुँचा दी गयी।

पूरे राजस्थान में यही हाल है। समूची मुसलमान आबादी आतंक के साये में एक-एक दिन काट रही है। पूरी राज्य मशीनरी को साध लिया गया है। कब कोई गोधरा जैसा बहाना बनाकर राज्य भर में 'शौर्य-प्रदर्शन' शुरू हो जाये, कहा नहीं जा सकता।

मध्य प्रदेश की स्थिति भी कमोबेश ऐसी ही है। स्कूली स्तर से लेकर माध्यमिक स्तर तक के पाठ्यक्रम बदले जा चुके हैं। पौराणिक कल्पनाओं को इतिहास के नाम पर पढ़ाया जा रहा है। नैतिक शिक्षा के नाम पर प्राचीन काल के अन्धविश्वासों, स्त्री विरोधी पुरातन विचारों और मूल्यों-मान्यताओं की घुट्टी पिलायी जा रही है। बाबा रामदेव से भी आगे बढ़कर योग को विज्ञान के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। मुख्यमंत्री शिवराज सिंह से लेकर प्रदेश मंत्रिमण्डल के तमाम सदस्य सूर्य नमस्कार और अन्य यौगिक अभ्यासों में शामिल होकर मीडिया के लिए तस्वीरें खिंचा रहे हैं और जनता के जेहन में विज्ञान और आनुभाविक ज्ञान का घालमेल पका रहे हैं।

राज्य मशीनरी किस तरह खुले पक्षपात पर उतर आयी है इसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण है प्रो राजीव सब्बरवाल हत्याकाण्ड

के अभियुक्तों का खुला बचाव और उनका संरक्षण। चूँकि हत्यारे संघ परिवार के छात्र संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के हैं इसलिए सौ ख़ून माफ़। पुलिस ने एफ आई आर ही कमज़ोर कर दी थी जिससे राज्य के हाईकोर्ट ने पर्याप्त सबूतों के अभाव में अभियुक्त को बरी कर दिया। प्रो सब्बरवाल के परिवार वालों को लगातार डराया-धमकाया गया। उधर, मुख्यमंत्री शिवराज सिंह डंके की चोट पर अस्पताल का निरीक्षण करने के बहाने इस काण्ड के हत्यारोपित से मिलने पहुँच जाते हैं।

भोपाल के गोशाला प्रकरण में भी आग अभी सुलग रही है। इसे रह-रहकर सुलगाया जाता रहता है। ये सब इस बात के साफ संकेत हैं कि मध्यप्रदेश में भी तैयारियाँ अन्दर ही अन्दर चल रही हैं।

इन दोनों ही राज्यों में मेहनतकश जनता के आन्दोलनों की कमज़ोर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही है और सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे में सामन्ती मूल्य-मान्यताएँ और सांस्कृति के अवशेष आज भी काफी मौजूद हैं। पूँजीवादी राजनीति के दायरे में सिन्धिया राजघराने की ग़रीब जनता के बीच आज भी पकड़ का कारण आम हिन्दू जनता की पुराने राजे-रजवाड़ों को देवतुल्य मानने की दिमागी गुलामी ही है जिससे आज भी वह पूरी तरह उबर नहीं पायी है। राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद भी वहाँ औद्योगिक विकास बेहद कम होने से औद्योगिक मज़दूर वर्ग की तादाद बहुत कम है। वामपन्थी-प्रगतिशील वैचारिक-सांस्कृतिक आन्दोलन भी मुख्यतः इन्दौर-जबलपुर-भोपाल के महानगरीय दायरे में ही सिमटा हुआ है। इन्हीं सब कारणों से साम्प्रदायिक फासीवादी ताक़तों को अपना एजेण्डा आगे बढ़ाने के लिए उर्वर भूमि मिली हुई है।

गुज़रात के बाद राजस्थान और मध्यप्रदेश के रूप में इन दो नयी प्रयोगशालाओं में लगातार आगे बढ़ता प्रयोग सभी प्रगतिशील, जनवादी और धर्मनिरपेक्ष लोगों के सामने गम्भीर चुनौती के रूप में खड़ा है। साम्प्रदायिक फासीवादी ताक़तों के मंसूबों को अगर चकनाचूर करना है तो देशभर में अपनी गोलबन्दी तेज़ करनी होगी। बहादुर, इंसाफपसन्द और प्रगतिचेता युवाओं को अँधेरे की इन काली ताक़तों के खिलाफ आने वाले दिनों में सड़कों पर मोर्चा लेने के लिए कटिबद्ध हो जाना होगा।

भगतसिंह के 100वें जन्मवर्ष की शुरुआत में स्मृति संकल्प यात्रा के तहत देश के विभिन्न इलाकों में कार्यक्रम

(पेज 41 से जारी)

जा रही है। ऐसे में भगतसिंह के विचारों और स्पिरिट को फिर से जिन्दा करने की ज़रूरत पर बल दिया गया। इस साइकिल जुलूस को शहीदे-आज़म विचार यात्रा नाम दिया गया।

लखनऊ। लखनऊ में भी छात्रों-युवाओं की टोलियों ने दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा के नेतृत्व में पुस्तक व पोस्टर प्रदर्शनियाँ लगाकर भगतसिंह के विचारों का प्रचार-प्रसार किया और इसी रूप में भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष की शुरुआत को मनाया। इस दौरान कार्यकर्ताओं ने भगतसिंह के सन्देशों वाले टीशर्ट पहन रखे थे।

इलाहाबाद। इलाहाबाद में छात्रों की टोलियों ने हॉस्टलों, ट्रेनों आदि में भगतसिंह और उनके साथियों के विचारों से परिचय कराते हुए पर्चे बाँटे। इसके अतिरिक्त वहाँ दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने विश्वविद्यालय परिसर में जुलूस निकाला। 'देश को आगे बढ़ाओ' नामक नुक्कड़ नाटक का भी मंचन किया गया। 28 सितम्बर को साईकिल जुलूस का आयोजन किया गया।

गोरखपुर। गोरखपुर में दिशा और नौभास द्वारा संयुक्त रूप से भगतसिंह सप्ताह का आयोजन किया। सप्ताह की शुरुआत भगतसिंह जन्मशताब्दी मार्च की शुरुआत से हुई। मार्च के दौरान रास्ते भर कई जगह नुक्कड़ नाटक और सभाएँ की गयीं। सप्ताह के अन्य कार्यक्रमों में गोरखपुर विश्वविद्यालय के मुख्य प्रवेश द्वार पर छात्रों की भारी भीड़ के समक्ष देश-विदेश के चुनिन्दा कवियों की क्रान्तिकारी कविताओं की ओजपूर्ण और भावनापूर्ण प्रस्तुतियाँ की गयीं। 28 सितम्बर को बेतियाहाता चौक स्थित भगतसिंह की प्रतिमा पर कुर्बानी और वीरता के प्रतीक के रूप में 100 लाल गुब्बारों को उड़ाया गया।

गाज़ियाबाद। यहाँ दिशा और नौभास की संयुक्त टीमों ने 23 सितम्बर से 30 सितम्बर के बीच विभिन्न मुहल्लों में सांस्कृतिक आयोजन किये। विजयनगर, रेलवे स्टेशन, नोएडा, मात्रिका विहार, खोड़ा के इलाकों में छात्रों-नौजवानों की टोलियाँ गईं। तमाम स्थानों पर मशाल जुलूसों, नुक्कड़ नाटकों, प्रभात फेरियों, साइकिल यात्राओं, आदि के जरिये भगतसिंह के सन्देश को ले जाया गया। नोएडा के मज़दूर इलाकों में भी साइकिल जुलूस और मशाल जुलूस का आयोजन किया गया। इस बीच भारी पैमाने पर पर्चा वितरण किया गया।

लुधियाना। नौजवान भारत सभा ने यहाँ पर जन्मशताब्दी की शुरुआत के अवसर पर एक एकदिवसीय युवा सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें पूरे पंजाब से भारी संख्या में नौजवानों के अतिरिक्त युवा मज़दूरों ने हिस्सा लिया। सम्मेलन के दिन सम्मेलन स्थल पर करीब 500 नौजवान मौजूद थे। इस सम्मेलन का समापन एक जुलूस के साथ किया गया। इस सम्मेलन के अन्त में कई प्रस्ताव पेश किये गये। इनमें से एक प्रस्ताव था कि भगतसिंह के खोए हुए साहित्य को ढूँढ़ने के लिए सरकार एक कमीशन का गठन करें। दूसरा प्रस्ताव यह था कि भगतसिंह के साहित्य को छपवा कर देश के हर पुस्तकालय तक पहुँचाया जाय और भगतसिंह के लेखों को हर स्तर के पाठ्यक्रम में शामिल किया जाय। एक प्रस्ताव में यह माँग भी की गयी कि साण्डर्स कत्ल में भगतसिंह द्वारा इस्तेमाल की गयी पिस्तौल को किसी राष्ट्रीय संग्रहालय में रखा जाय, जिसे अभी भी अपराधियों के साथ मिले हथियारों के साथ फिलौर जेल में रखा गया है। चारों प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुए।

रिलायंस द्वारा आन्ध्र प्रदेश में पर्यावरण की घातक तबाही

● लता

देश में तमाम स्वयंसेवी संगठनों से लेकर केन्द्र सरकार और राज्य सरकारें तक पर्यावरण के विनाश को लेकर आजकल काफ़ी शोर मचा रही हैं। पर्यावरण को पहुँच रहे नुकसान पर टी. वी., रेडियो और अखबारों आदि के जरिये जनता के गले जमकर उपदेश उड़ेला जाता है। लोगों को कहा जाता है कि पर्यावरण का संरक्षण करो। इसको बचाओ! बात तो सही ही है! लेकिन पर्यावरण को हो रहे नुकसान के लिए ज़िम्मेदार कौन है? क्या आम जनता इसके लिए ज़िम्मेदार है? पहाड़ों को नंगा कौन कर रहा है? भूजल का दोहन कौन कर रहा है? समुद्र तटों का वाणिज्यीकरण कर उन्हें तबाह कौन कर रहा है? इसको जानना बहुत ज़रूरी है। सरकार और उसका पूरा प्रचार तन्त्र तो यों जताता है जैसे सारे पर्यावरण का सत्यानास जनता द्वारा जंगल से जलावन लकड़ी जुटाने, मछली पकड़ने आदि से हो रहा है! लेकिन तमाम अनुसंधानों से साबित किया है कि गाँवों में रहने वाली आम ग़रीब जनता, जंगलों में और उसके इर्द-गिर्द रहने वाले आदिवासी पर्यावरण के साथ सबसे अधिक सामंजस्य में रहते हैं। ऐसा वे सदियों से करते आ रहे हैं और पर्यावरण से वे जितना लेते हैं उतना ही उसे वापिस भी कर देते हैं। फिर आखिर पर्यावरण को तबाह कर कौन रहा है? इसको पिछले दिनों अखबार में आयी एक ख़बर के जरिये समझने की कोशिश करते हैं।

हाल ही में ख़बर आयी है कि काकीनाड़ा में रिलायंस इण्डस्ट्रीज़ लिमिटेड अपनी के.जी.गैस और ऑयल टर्मिनल स्थापित कर रहा है। अपनी इस परियोजना के तहत यह वहाँ स्थित सँकरी खाड़ियों को, जिन्हें क्रीक भी कहा जाता है, भर रहा है या उनका रुख बदल दे रहा है। इसके साथ ही रिलायंस वहाँ के मैंग्रोव वनों की छतरी को नष्ट कर रहा है। यह गैस टर्मिनल पूर्वी गोदावरी के गाँव पोलकुरू तक बनाया जाएगा। हाल ही में इस गाँव का दौरा कर रही पर्यावरणवादियों की एक टोली ने पाया कि आन्ध्र प्रदेश राज्य के आख़िरी बचे मैंग्रोव नष्ट कर दिये गये हैं। इन पर्यावरणवादियों को यह जानकर काफ़ी आश्चर्य हुआ और सदमा पहुँचा कि ज़्यादातर क्रीक भर दिये गये हैं और उनमें से एक को कोरियंगा वन्यजीवन संरक्षण उद्यान की तरफ़ मोड़ दिया गया है। इसके कारण इस उद्यान पर ही ख़तरा मण्डराने लगा है। आन्ध्र प्रदेश के कुछ आख़िरी बचे मैंग्रोव वनों में से एक को रिलायंस ने तबाह कर दिया है। मैंग्रोव वन मनुष्यों के दोस्त होते हैं। जब भी कोई समुद्री चक्रवात या तूफ़ान आता है तो उसके सारे झटके और आवेग को ये बसाहट के इलाकों में पहुँचने से पहले ही सोख लेते हैं। दो वर्षों पहले आयी सूनामी में दो लाख से अधिक जानें सिर्फ़ इसलिए चली गयीं क्योंकि मैंग्रोव वनों को बुरी तरह तबाह कर डाला गया था। पश्चिमी तट के मैंग्रोव कवर पहले ही तबाह किये जा चुके हैं। मुम्बई और गोवा के मैंग्रोव अमीरज़ादों की औलादों की ऐयाशी के लिए बनाए जाने वाले रिज़ॉर्टों और पाँच सितारा होटलों के निर्माण के कारण पहले ही तबाह किये जा चुके हैं। राज्य में पूर्वी गोदावरी को छोड़कर ये जीवनरक्षक मैंग्रोव वन सिर्फ़ कृणा और गोजदूर में बचे हैं। कोरियंगा वन्यजीवन संरक्षण उद्यान के अधिकारी रिलायंस द्वारा की जा रही मनमानियों और उससे होने वाले नुकसान से भली-भाँति परिचित हैं, लेकिन इसके ख़िलाफ़ कुछ भी करने से किनारा कर लेते हैं। उनका कहना है कि इसमें बहुत बड़ी और शक्तिशाली कम्पनी संलग्न है।

मैंग्रोव समुद्री तटों पर बसे जनजीवन की समुद्री तूफ़ानों और चक्रवातों से रक्षा करते हैं। यह ख़तरनाक लहरों और तूफ़ानों की गति को सोख लेता है। साथ ही मैंग्रोव का रिश्ता जैव-विविधता से भी है। इन वनों के नष्ट होने की एक वजह पूँजीपतियों द्वारा संचालित झींगा-पालन उद्योग भी है। मैंग्रोव वनों की तबाही और बर्बादी से जो तात्कालिक नुकसान है वह है तूफ़ानों से जानमाल पर पैदा होने वाला ख़तरा। ऐसे किसी तूफ़ान की सूरत में मरने वाले लोग अम्बानी सरीखे मुनाफ़ाखोर पूँजीपति नहीं होंगे, बल्कि तटों पर रहने वाली आम ग़रीब मेहनतक़श आबादी होगी। अगर दूरगामी नुकसानों की बात करें तो वह है बहुमूल्य जैव-विविधता का नष्ट होना। इसका ख़ामियाजा आने वाले चन्द-एक वर्षों में नहीं बल्कि आने वाले लम्बे समय तक इंसानियत को भुगतना पड़ेगा।

मैंग्रोव और क्रीक्स को नक़सान पहुँचाये बिना भी रिलायंस के गैस व ऑयल टर्मिनल को स्थापित किया जा सकता है। लेकिन इन सावधानियों को बरतने और उस पर होने वाले ख़र्च की जहमत उठाने की रिलायंस जैसी कम्पनियाँ कोई ज़रूरत नहीं समझतीं। मैंग्रोव के नष्ट होने की अन्य वजहों में समुद्री पर्यटन के लिए बनाए जाने वाले होटल व रिज़ॉर्ट तथा झींगा-पालन

(पेज 64 पर जारी)

अमेरिकी सबप्राइम संकट : गहराते साम्राज्यवादी संकट की नयी अभिव्यक्ति

(पेज 39 से जारी)

बुलबुले के फटने के कारण 70 प्रतिशत की अभूतपूर्व गिरावट आयी। इसके कारण लोगों ने शेयरों में से अपनी पूँजी निकालनी शुरू कर दी और मीडिया और सट्टेबाज़ों के बहकावे में रियल एस्टेट में लगानी शुरू कर दी जिसे ज़्यादा भरोसेमन्द और कभी हानिकारक न बनने वाला निवेश करार दिया गया। येल के अर्थशास्त्री रॉबर्ट शिलर ने इस पर गौर करने योग्य टिप्पणी करते हुए कहा था कि "अतार्किक प्रचुरता" शेयरों की दुनिया से निकल कर मकानों की दुनिया में आ गयी। शेयर मार्केट के ढहने के बाद सट्टेबाज़ी का निकास द्वार बना आवास उद्योग।

दूसरा प्रमुख वास्तविक कारण था *फ़ेडरल रिज़र्व* द्वारा डॉट-कॉम बुलबुले के फटने के झटके से अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए ब्याज दरों को ऐतिहासिक रूप से निम्न स्तरों तक गिरा देना। *फ़ेडरल बैंक* ने 2001 में ब्याज दरों को 6.5 प्रतिशत से घटाकर 1 प्रतिशत पर कर दिया!! फेड अध्यक्ष एलन ग्रीनस्पैन ने बाद में स्वीकार किया कि हाउसिंग बुलबुले के पैदा होने का कारण फेड द्वारा ब्याज दरों को गिराना ही था। सभी जानते हैं कि निम्न ब्याज दरों, उच्चतर आवास मूल्यों और बढ़ती वित्तीय तरलता का अर्थव्यवस्था पर क्या असर पड़ता है। फेड की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि किसी भी अन्य सम्पत्ति के मूल्य की ही तरह, घर की कीमतें भी ब्याज दरों से प्रभावित होती हैं और कई देशों में तो आवास उद्योग ही मौद्रिक नीति में आये बदलाव को अन्य सेक्टरों तक संचारित करते हैं। एलन ग्रीनस्पैन का उस समय तो यशगान गाया गया कि उन्होंने अर्थव्यवस्था को मन्दी में जाने से बचाया। और बाद में उनकी आलोचनाएँ की गयीं कि उन्होंने सबकुछ जानते हुए भी आवास बाज़ार के गुब्बारे में ज़रूरत से ज़्यादा हवा भर दी जिससे कि वह फूट गया। ब्याज दरों को नीचे करने से पूँजी तो बाज़ार में आ गयी। लेकिन ज़्यादा अच्छी क्रेडिट हिस्टरी वालों को ऋण की आवश्यकता नहीं थी और ख़राब *क्रेडिट हिस्टरी* वालों को ऋण देने के लिए किसी "रचनात्मक" ऋण उपकरण की ज़रूरत थी। इसी ज़रूरत को पूरा करने के लिए सबप्राइम लोन, एडजस्टेबल मॉर्टगेज रेट, आदि जैसे उपकरणों का उपयोग शुरू किया गया और बड़े पैमाने पर खराब ऋण दिये गये, जो बाद में ज़हरीला वित्तीय कचरा साबित हुए। डलास फेड के अध्यक्ष रिचर्ड फिशर की इस उक्ति पर ग़ौर करें, "फेड की कम ब्याज दरों की नीति ने गैरइरादतन तौर पर आवास बाज़ार में सट्टेबाज़ी को बढ़ावा दिया, और बाद में होने वाले भारी करेक्शन के कारण लाखों मकानमालिकों को भारी हानि उठानी पड़ी।" मॉर्टगेज ब्याज दरों में कटौती से ऋण लेने की कीमत कम हो जाती है और इसके कारण एक ऐसे बाज़ार में कीमतें बढ़ने लगती हैं जहाँ लोग मकान ख़रीदने के लिए ऋण लेते हैं। गणना करने से पता चलता है कि ब्याज दरों में 1 प्रतिशत का बदलाव घरों की कीमत को 10 प्रतिशत तक प्रभावित कर सकता है। यानी, ब्याज दरों और मकान की कीमतों में 1:10 का अनुपात है। रॉबर्ट शिलर ने दिखलाया है कि फेड द्वारा ब्याज दरों में की गयी भारी कटौती के कारण हाउसिंग बूम के दौरान 45 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई है। इसी नियम के अनुसार जब ब्याज दरें बढ़ती हैं तो घर की कीमतों पर क्या प्रभाव पड़ता होगा इसे समझा जा सकता है। हुआ यही है। फेड ने 2004 से 2006 के बीच 17 बार ब्याज दरें बढ़ाईं—1 प्रतिशत से 5.25 प्रतिशत तक। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। अर्थशास्त्रियों का कहना था कि ब्याज दरों को पहले ही बढ़ाया जाना चाहिए था। लेकिन यह भी पूँजीवाद के दायरे के भीतर एक सन्त सदिच्छा ही है। पूँजीवादी व्यवस्था के नियोजक छोटी दूरी का ही सोच सकते हैं। लम्बा सोचने की इजाज़त उन्हें अराजकतापूर्ण आर्थिक शक्तियाँ देती नहीं हैं।

कम ब्याज दरों से ही सबप्राइम ऋण देने की गति, दर और आकार में वृद्धि हुई। मार्च 2007 में सबप्राइम ऋण लेने वालों के भारी संख्या में डिफॉल्टर होने और उनकी संपत्ति की ज़ब्ती और नीलामी होने के कारण सबप्राइम ऋणदाता ढह गये और पूरा सबप्राइम ही नहीं बल्कि ऋण बाज़ार ही ढहना शुरू हो गया। इसके बार में *हार्पर्स मैगज़ीन* लिखती है : *"समस्या यह है कि खरीदने वालों के कुल मॉर्टगेज के स्थिर रहने या बढ़ने के बावजूद घर की कीमतें गिर रही हैं...बढ़ता ऋण-सेवा भुगतान आगे भी उपभोक्ता ख़र्च से आय को हटाएगा। साथ में देखने पर, ये कारक "वास्तविक अर्थव्यवस्था" को सिकोड़ देंगे, पहले से ही गिर रही वास्तविक आय को नीचे ले जाएँगे, और कर्ज़ तले दबी हमारी अर्थव्यवस्था को जापान जैसे ठहराव में धकेल देंगे या उससे भी बुरी स्थिति पैदा कर देंगे।"* जिन कारकों ने ब्याज दरों को बढ़ाने का काम किया है वे हैं अमेरिका का राष्ट्रीय ऋण, व्यापार घाटा, कच्चे तेल की बढ़ती कीमतों के कारण मुद्रास्फीति में वृद्धि, और अमेरिकी अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश में आने वाले परिवर्तन। परिवर्तनीय ब्याज दरों के कारण सबप्राइम ऋण फेड द्वारा ब्याज दरें बढ़ाए जाने के कारण काफ़ी घातक सिद्ध हुए। फेड ने जब ब्याज दरें बढ़ाईं तो वे सबप्राइम ऋणदाता अपनी ब्याज दरों को इस हद तक बढ़ाने को मजबूर हो गये कि सबप्राइम ऋण लेने वालों के लिए ऋण की किश्त चुकाना भी मुश्किल हो गया और उनकी सम्पत्ति की ज़ब्ती और नीलामी शुरू हो गयी। लेकिन अब मकानों की कीमतें इतनी गिर गयी थीं कि

उनमें निवेश करने के लिए पर्याप्त निवेशक नहीं बचे। नतीजा यह हुआ कि तमाम सबप्राइम ऋणदाता कंगाल होने शुरू हो गये और साथ ही कोलेटरल डेट ऑब्लिगेशन पैकेज के तहत जिन हेज फण्ड्स और निवेश बैंकों ने निवेश किये थे वे भी दीवालिया होने लगे। यही कारण था कि सबप्राइम संकट सबप्राइम ऋण से बढ़कर ऑल्ट-ए व प्राइम ऋण तक भी पहुँच गया और पूरा का पूरा वित्तीय पूँजी बाज़ार ही भयंकर रूप से संकटग्रस्त हो गया। बाज़ार में तरलता की कमी हो गयी; कई निवेशक क्रेडिट क्रंच और असमाधेयता के शिक़ार हो गये। फेड ने तीन बार पूँजी बाज़ार में पूँजी इंजेक्ट करके पूँजी बाज़ार को अपने पैरों पर खड़ा करने की कोशिश की; इसके अतिरिक्त, फेड ने ब्याज दरें थोड़ी गिराकर भी सबप्राइम संकट को बढ़ने से रोकने की कोशिश की लेकिन इसका कोई लाभ नहीं हुआ और दिसम्बर मध्य आते-आते सरकारी अधिकारी और प्रमुख निवेश बैंक भी इस बात को स्वीकार करने लगे कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था एक गहरे संकट के भँवर में फँस चुकी है। यह संकट अब सर्वव्यापी बन चुका है। दुनिया के सबसे बड़े बॉण्ड फण्ड पिमको के प्रबन्धक ने तो जून 2007 में ही चेतावनी दे दी थी कि सबप्राइम संकट अन्य सेक्टरों से कोई कटी हुई परिघटना नहीं है और कालान्तर में इसकी कीमत पूरी की पूरी अर्थव्यवस्था चुकाएगी। इसके दुष्प्रभाव व्यापक हैं। सबसे प्रमुख प्रभाव पूरे निर्माण उद्योग पर पड़ा है। नये मकानों के निर्माण में भारी कमी दर्ज की जा रही है। मॉर्टगेज इक्विटी में निवेश करने वालों ने अपनी पूँजी निकालनी शुरू कर दी है जिससे पूरी की पूरी मॉर्टगेज इण्डस्ट्री एक गम्भीर संकट का शिकार हो चुकी है। अर्थशास्त्री नूरियल रूबीनी ने कहा है कि आवास उद्योग गहरी मन्दी का शिकार है जो पूरी अर्थव्यवस्था को पटरी से उतार रहा है और यह एक महामन्दी भी पैदा कर सकता है। भूमण्डलीकरण के "मानवीय चेहरे" की वकालत करने वाले जोसेफ स्टिग्लिट्ज़ तक को यह स्वीकार करना पड़ा है मकान की गिरती कीमतें पूरी अमेरिकी अर्थव्यवस्था को एक मन्दी की ओर धकेल सकती हैं। मकान की कीमतें गिरने के साथ ही आवास उद्योग से जुड़ा "समृद्धि प्रभाव" हवा हो चुका है और उपभोक्ता सामग्रियों को खरीदने के लिए लोगों के पास न तो पैसा है और न ही वे पैसा खर्च करना चाहते हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था अपने 13.7 ट्रिलियन डॉलर का 70 प्रतिशत उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद से प्राप्त करती है। आवास उद्योग की मन्दी के कारण उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में भी भारी कमी आई है और इसके कारण "वास्तविक अर्थव्यवस्था" प्रभावित होने लगी है। इसका एक प्रमाण तब मिला जब 9 सितम्बर को डॉलर 15 वर्ष के अपने न्यूनतम स्तर पर पहुँच गया और 4000 नौकरियों में कटौती की गयी। 2003 के बाद पहली बार ऐसा हुआ है कि अमेरिका में नौकरियों में कटौती की गयी है। और यह तो सिर्फ़ शुरुआत भर है। आगे स्थिति इससे भी भयंकर रूप धारण करने वाली है।

अमेरिकी सरकार और *फेडरल रिज़र्व* के सामने एक बहुत बड़ा सवाल यह है कि पहले की तरह इस बाज़ार को संकट से उबारने के लिए कोई "कीन्सियाई हस्तक्षेप" किया जाय या नहीं? यह सवाल भी कोई सीधा सवाल नहीं है बल्कि काफी टेढ़ा-मेढ़ा है। कारण यह है कि राष्ट्रीय कर्ज़ के बढ़ने, कच्चे तेल की कीमतों में वृद्धि और व्यापार घाटे के बढ़ने के साथ ही फेड के लिए ब्याज दरों को और गिराना एक तरह से असम्भव हो गया है। दूसरा कारण यह है कि पहले भी बाज़ार में पूँजी इंजेक्ट करके अर्थव्यवस्था को उबारने के दूरगामी परिणामों को अमेरिकी शासक वर्ग देख चुका है। 1997-98 के संकट से उबरने के लिए फेड ने ब्याज दरें गिराई थीं और पूँजी बाज़ार में पूँजी *इंजेक्ट* की थी। इसके कारण जो डॉट-कॉम बुलबुला पैदा हुआ उसके 2001 में फूटने के बाद फेडरल रिज़र्व ने हाउसिंग बूम पैदा करके अर्थव्यवस्था को उबारने के लिए फिर से ब्याज दरों को गिराया और इस बार अभूतपूर्व स्तरों तक। 2005 में हाउसिंग बुलबुले के फूटने के बाद जो सबप्राइम संकट शुरू हुआ है उससे उबरने के लिए फिर से पूँजी बाज़ार को कोरामिन का इंजेक्शन देने से फेड ने इंकार कर दिया है। क्योंकि हर ऐसी मदद के बाद जो नया संकट आया है वह पहले से ज़्यादा भयंकर रहा है क्योंकि हर ऐसे कदम के बाद अर्थव्यवस्था में अस्थिरता बढ़ी है, तरलता के बढ़ने-घटने के चक्र ज़्यादा क्षतिकारी हो गये हैं और सट्टेबाज़ी को इससे काफी बढ़ावा मिला है। कुल मिलाकर, विश्व साम्राज्यवाद के चौधरी और उनके तलवे चाटने वाले अर्थशास्त्री ही अब इस पूरे जटिल पूँजी तंत्र को नहीं समझ पा रहे हैं जो उन्होंने खुद ही पैदा किया है। वे ज़्यादा से ज़्यादा तात्कालिक राहत के लिए होम्योपैथिक डॉक्टर की तरह लक्षणों की पहचान करने की कोशिश कर रहे हैं और वैसे ही सुझाव भी दे रहे हैं। लेकिन इस बीमारी का इलाज पूँजीवादी-साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के भीतर है ही नहीं। यह इसकी अंतकारी लाइलाज बीमारी है—अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता।

सरकारी सहायता से बाज़ार को उबारने का तो अब बुर्जुआ अर्थशास्त्री तक अपनी भाषा और शब्दावली में विरोध कर रहे हैं। सरकारी मदद का विरोध करने वालों का कहना है कि ऐसी मदद यह एक बुरा उदाहरण स्थापित कर देगी और एक "नैतिक तबाही" लाएगी। इसके अतिरिक्त, यह आवास उद्योग में सट्टेबाज़ी को बढ़ावा देगा। मॉर्टगेज समर्थित *सिक्योरिटीज़* (प्रतिभूतियों) के बाज़ार के जनक, *सालोमॉन ब्रदर्स* का कहना है कि यह तो तूफ़ान की शुरुआत भर है। इसी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि तूफ़ान के मध्य में क्या होने वाला है।

लुब्बेलुबाब यह है कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था को एक गम्भीर संकट के भँवर में जाने से अब कोई नहीं बचा सकता है। और इस संकट को रोकने का प्रयास तो अब सरकार ने छोड़ भी दिया है। अब तो सारे घाघ "डैमेज कण्ट्रोल" के बारे में सोच रहे हैं!

चेन रिएक्शन

जिन प्रेक्षकों ने यह भविष्यवाणी की थी कि अमेरिकी

सबप्राइम संकट एक वित्तीय संकट है जिसका "वास्तविक अर्थव्यवस्था" पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और जो अमेरिकी पूँजी बाज़ार तक ही सीमित रहेगा, उन्हें जल्दी ही अपनी बात पर पुनर्विचार करना पड़ा। सितम्बर, 2007 में अमेरिकी सबप्राइम संकट के कारण ब्रिटेन के प्रमुख मॉर्टगेज बैंकों में से एक *नॉर्दर्न रॉक* ढह गया। पूरे महीने बैंक से अपने पैसे निकालने वालों की भीड़ लगी रही और बैंक से कुछ ही समय में लोगों ने 2 खरब डॉलर निकाल लिए और नॉर्दर्न रॉक दीवालियेपन की कगार पर आ गया। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड ने सही समय पर हस्तक्षेप करके इस बैंक को बचाया। लेकिन यह पूरे वित्तीय संकट को रोक नहीं सकता। इंग्लैण्ड के केन्द्रीय बैंक ने 28 बिलियन डॉलर ब्रिटिश पूँजी बाज़ार में इंजेक्ट किए लेकिन अभी भी स्थिति डावाँडोल ही बनी हुई है। नॉर्दर्न रॉक बैंक का पूरा व्यवसाय मॉर्टगेज ऋणों पर आधारित था। इसमें करीब 4,000 कर्मचारी काम करते हैं। अमेरिकी सबप्राइम बाज़ार के ढहने के साथ ही इसके पास मॉर्टगेज ऋणों को वित्तपोषित करने के लिए पूँजी की कमी हो गयी। वैश्विक पूँजी बाज़ार के अधिक से अधिक जुड़ते जाने के बाद यह तो होना ही था। और इस कदर भूमण्डलीकृत विश्व वित्तीय बाज़ार में ऐसी घोषणा और भविष्यवाणियाँ करना कि कोई भी संकट स्थानीय बना रहेगा, मूर्खतापूर्ण है। लेकिन पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों की फितरत शुतुरमुर्ग जैसी होती है। तूफ़ान आने पर वे अपना सिर बालू के अन्दर डालकर यह सोच लेते हैं कि तूफ़ान चला गया। लेकिन ऐसा होता तो है नहीं, इसलिए इससे कोई फायदा नहीं होता। जैसा कि लिबरल डेमोक्रैट विंस केबल ने कहा है, "मौजूदा बूम दीर्घकालिक निवेश पर या निर्यात या अधिक शिक्षित, कुशल श्रम शक्ति पर आधारित नहीं है। यह ऋणपोषित उपभोक्ता क्रय, बेहूदा किस्म के ऋण और मकानों की कीमत बढ़ने पर आधारित है। इसे तो फूटना ही था।"

चीन की अर्थव्यवस्था पर भी अमेरिकी सबप्राइम संकट का प्रभाव पड़ना शुरू हो गया है। कारण यह है कि चीन की पूरी अर्थव्यवस्था एक निर्यात निर्देशित अर्थव्यवस्था है और उसके निर्यातों का सबसे बड़ा ख़रीदार अमेरिका है। अमेरिका का चीन की ओर व्यापार घाटा चेतावनी स्तर को कब का पार कर चुका है। ऐसे में अमेरिकी अर्थव्यवस्था में होने वाली कोई भी हलचल चीन की अर्थव्यवस्था को प्रभावित किए बगैर नहीं रह सकती। और जब संकट इस गम्भीरता और इस आकार का हो तो समझा जा सकता है कि चीन की अर्थव्यवस्था पर उसका क्या प्रभाव पड़ सकता है। मिसाल के तौर पर, अगर फेडरल बैंक ने ब्याज दरों को और घटाने का निर्णय लिया होता या अगर वह भविष्य में संकट को और गहराने से रोकने के लिए ऐसा करता है, तो इसका चीन की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि वह अमेरिका के राष्ट्रीय ऋण और व्यापार घाटे को और बढ़ाएगा। व्यापार ने अमेरिकी और चीनी अर्थव्यवस्था को बुरी तरह नत्थी कर दिया है। अगर अमेरिकी बाज़ार में उपभोक्ता टिकाऊ और गैर-टिकाऊ वस्तुओं पर ख़र्च में कमी आती है तो जिस देश पर इसका सबसे भयंकर प्रभाव पड़ेगा वह निर्विवाद रूप से चीन ही होगा। दूसरे नम्बर पर भारत का नाम आता है। और अगर अमेरिकी वित्तीय पूँजी बाज़ार में संकट आता है तो उसका प्रभाव दुनिया के हर देश पर पड़ेगा। कारण यह है कि भारत और चीन जैसी तथाकथित "उभरती अर्थव्यवस्थाओं" में जो विदेशी संस्थागत निवेश हो रहा है जिसके कारण यहाँ के शेयर बाज़ार आसमान छूते हैं, उसका एक विशाल हिस्सा हेज फण्ड्स द्वारा किया जाने वाला निवेश है। हेज फण्ड्स पूँजी बाज़ार में होने वाले किसी भी संकट का आसानी से शिकार हो जाते हैं। मिसाल के तौर पर, सबप्राइम संकट ने भी हेज फण्ड्स को ही सर्वाधिक हानि पहुँचाई है। ऐसे संकट की सूरत में हेज फण्ड्स निवेश को रोकना शुरू कर देते हैं और शेयर बाज़ार से अपनी पूँजी निकालना शुरू कर देते हैं। भारत के सेंसेक्स में हाल में आयी ज़बर्दस्त अस्थिरता का भी प्रमुख कारण यही था।

एक दूसरे रूप में कनाडा, ब्रिटेन और ऑस्ट्रेलिया की अर्थव्यवस्थाएँ भी अमेरिकी अर्थव्यवस्था से नाभिनालबद्ध हैं। उनपर भी इस संकट का प्रभाव पड़ना लाज़िमी है।

विश्व अर्थव्यवस्था : गहराता साम्राज्यवादी संकट और आने वाले समय के दिशा संकेतक

मार्च 2007 में जब सबप्राइम संकट पूरी तरह खुलकर सामने आ गया तो विशेषज्ञ और आम लोग, दोनों ही इसकी व्यापकता और गहराई को पूरी तरह नहीं समझ पाए थे। वित्तीय जगत में जब नुकसान पर नुकसान हुए जा रहा था तब भी शेयर बाज़ार कुलाँचें भर रहे थे। इसी दौर में भारत में संवेदी सूचकांक ने अपना शीर्ष प्राप्त किया और लगातार तेज़ी का एक दौर बना रहा। हालाँकि अब शेयर बाज़ार तेज़ी से लुढ़क रहा है। लेकिन तब एक अजीबो-ग़रीब किस्म की स्थिति पैदा हो गयी थी। एक तरफ सबप्राइम संकट बढ़ रहा था और दूसरी तरफ शेयर बाज़ार में तेजड़ियों का दबदबा कायम हो रहा था। डो जोंस अक्टूबर 1, 2007 को रिकॉर्ड-तोड़ 14,087.55 अंक पर बन्द हुआ। भारत में भी सेंसेक्स 20,000 अंक के आँकड़े को छू गया। लोग हैरान थे कि वित्तीय संकट ने ही एक वित्तीय तेज़ी को जन्म कैसे दे दिया। हालाँकि, यह हैरानी अब दूर हो चुकी है क्योंकि लोग समझ गये हैं कि ऐसी वित्तीय तेज़ी सिर्फ पूँजी बाज़ार के बढ़ते आवारा-शराबी चरित्र की ओर ही इशारा करती है। अमेरिका में फेड के हस्तक्षेप के कारण कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि सबप्राइम संकट एक सेक्टोरल संकट मात्र है और इसके व्यापक परिणाम पूरी अर्थव्यवस्था को नहीं भुगतने पड़ेंगे। हाल में स्टॉक मार्केट में आई तेज़ी का मुख्य वजह हर जगह सरकार द्वारा हस्तक्षेप करके व्यवस्था में तरलता को 'पम्प इन' करना ही था, जिससे लगा था कि सबप्राइम संकट एक सर्वांगीण आर्थिक मन्दी का रूप नहीं

लेगा। जो लोग इन्हीं आधारों पर यह दावा करने लगे थे कि पूँजीवाद अब पहले के मुकाबले संकटों का शिकार कम होता है, उन्हें अपनी पूरी विचार-पद्धति पर ही गौर करने की ज़रूरत है। उनके ऐसा मानने के पीछे जो तर्क काम करता है वह यह है कि वृद्धि में आने वाले ठहराव के दौरान भी ऋण को सहज रूप से प्राप्य बनाकर मन्दी को रोका जा सकता है, क्योंकि पूँजी की प्रचुरता इस बात की इजाज़त देती है कि ऋण से उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद को बढ़ावा दिया जा सके। ऋणदाता अपने आपको अधिक सुरक्षित महसूस करने लगे हैं क्योंकि सिक्योरिटीज़ (प्रतिभूतियों) के जरिये वे जोखिम का बँटवारा कर सकते हैं। ऐसा बँटवारा किसी एक निवेशक के तबाह होने की स्थिति से बचाने के लिए किया गया था। लेकिन जिस पूँजी तंत्र का निर्माण साम्राज्यवादी विश्व प्रभुओं ने किया है उसे अब वे ही नहीं समझते और वह उनके हाथों से निकल गया है। मकसद था कि किसी एक की तबाही न आए और सभी झटके के अपने हिस्से को सोख लें और कोई तबाह न हो। लेकिन हुआ यह कि पहले तो कोई एक जल्दी तबाह होता, अब देर से सब तबाह होंगे। ऋण द्वारा खरीदारी को वित्तपोषित करने के पीछे का केन्द्रीय तर्क यह था कि आय और खर्च के बीच के अनम्य सम्बन्ध को तोड़ दिया जाय। यानी उपभोक्ताओं और निवेशकों के ख़र्च का मूल्यांकन इस बात पर नहीं किया जा सकता है कि उनकी मासिक या वार्षिक आय क्या है। ऋण उन्हें उन सभी सम्भावनाओं में निवेश करने की क्षमता देता है जिसकी इजाज़त उनकी आय उन्हें नहीं देती। ऐसा लगता है मानो आय का ख़र्च से रिश्ता ख़त्म हो गया। लेकिन विश्लेषण को थोड़ा गहराई में ले जाते ही यह समझा जा सकता है कि ऐसा होता नहीं है। अन्ततः आय ही भुगतान की किश्तें भरती है। कभी-कभी यह सिलसिला बहुत घूम-फिर कर आय तक पहुँचता है, लेकिन इस सिलसिले के अंतिम छोर पर आय ही होती है। ऋण के इस पूरे खेल को ही 'वित्तीय अनियमन' (फाइनेंशियल डिरेग्यूलेशन) और 'वित्तीय नवोन्मेष' (फाइनेंशियल इनोवेशन) का नाम दिया जाता है, जिसे सुनकर अब निवेशकों की रीढ़ की हड्डी तक में सिहरन दौड़ जानी चाहिए!!

दरअसल, वित्तीय तरलता में बढ़ोत्तरी के कारण और वित्तीय लेन-देन की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी के कारण वित्तीय अस्थिरता में ज़बर्दस्त वृद्धि हुई है। यानी, तेज़ी और मन्दी का चक्रीय क्रम छोटा हो गया है। कहना चाहिए कि अच्छी तरह से तेज़ी जैसी कोई चीज़ तो आती ही नहीं है बस एक मन्द मन्दी की स्थिति बनी रहती है। वित्तीय बाज़ार में पैदा हुई अस्थिरता वास्तविक अर्थव्यवस्था में भी संकट पैदा कर देती है। कहा जा सकता है कि वित्तीय पूँजी की प्रचुरता ने वित्तीय सट्टेबाज़ी को बहुत बढ़ा दिया है जो मूलतः अनुत्पादक पूँजी है। लेकिन यह वास्तविक अर्थव्यवस्था से नाभिनालबद्ध हो गयी है। सट्टेबाज़ी वित्तीय पूँजी बाज़ार में जो उथल-पुथल लाती है उसका 'आफ्टर-इफेक्ट' वास्तविक अर्थव्यवस्था में साफ तौर पर महसूस किया जा सकता है।

जिन तरीकों से वित्तीय पूँजी अर्थव्यवस्था में वृद्धि का भ्रम पैदा करती हैं वह है 'समृद्धि प्रभाव' पैदा करके उपभोग को बढ़ावा देना, जिसके बारे में हम पहले ही बात कर चुके हैं। अमेरिका में जो उपभोग मेला पूरे 1990 के दशक में चला उसका आधार यही 'वेल्थ इफेक्ट' था, वास्तविक आय नहीं। 1990 के दशक की तेज़ी के दो कारण थे। पहला, भूमण्डलीकरण के कारण वित्तीय पूँजी का निर्बाध प्रवाह और पूँजी बाज़ारों का आपस में जुड़ जाना। दूसरा कारण था अमेरिका में उपभोक्ता टिकाऊ व गैर-टिकाऊ सामग्रियों की खरीद में भारी वृद्धि से होने वाली वृद्धि; हम बता चुके हैं कि खरीदारी में यह वृद्धि ऋण-पोषित थी, जो वित्तीय पूँजी के विस्तार के कारण सम्भव हुआ था। मीडिया और सट्टेबाज़ी के जरिये अमेरिकी मध्यम वर्ग में एक 'कंज़म्प्शन फेस्ट' की मानसिकता पैदा की गयी। इसके लिए उन्हें यह अहसास कराना ज़रूरी था कि वे समृद्ध हैं। इसके लिए, एक हाउसिंग बूम पैदा किया गया जिसके कारण सभी मकानमालिकों ने अधिक समृद्ध महसूस करना शुरू किया। अधिक समृद्ध महसूस करने वाला मकान मालिक ही, जिसको यह भरोसा दिला दिया जाय कि भविष्य में मकानों की कीमत और बढ़ेगी और वह और अमीर होगा, अपने उपभोग को वित्तपोषित करने के लिए मॉर्टगेज ऋण जैसे उपकरणों का उपयोग कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, जब कोई भी तेज़ी ऋण द्वारा वित्तपोषित होती है तो वह एक और बुराई को साथ लाती है—अबचत (डिस्सेविंग)। क्रेडिट या ऋण का अर्थ ही होता है शुद्ध अबचत। बैंक जो ऋण देते हैं वह बचत का ही हिस्सा होता है। अगर ऋण का बड़ा हिस्सा उपभोग पर ही ख़र्च हो जाता है तो निश्चित रूप से वह टिकाऊ आर्थिक वृद्धि को बढ़ावा नहीं दे सकता। पहले इसे उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में आई तेज़ी को शेयर मार्केट में 1997 से 2001 तक की तेज़ी के जरिये वित्त-पोषित किया गया था। यही डॉट-कॉम बुलबुले के बनने और फूटने का दौर था। शेयर मार्केट में आई तेज़ी से परजीवी अमेरिकी मध्य वर्ग ने जमकर कमाई की और उसे उपभोग में जमकर उड़ाया। कारण यह है कि अमेरिका में शेयर व्यापार करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। एक सर्वेक्षण के अनुसार 1998 में 35 से 44 वर्ष के अमेरिकी लोगों में से 62.4 प्रतिशत लोग शेयर-होल्डर थे। यही कारण था कि 1997 से 2001 के शेयर बाज़ार बूम ने उपभोग में ख़र्च को जमकर बढ़ाया। 2001 में डॉट-कॉम क्रैश के बाद किस तरह से हाउसिंग बूम पैदा किया गया और उससे उपभोक्ता सामग्रियों पर ख़र्च को कैसे बरकरार रखा गया, यह हम पहले ही दिखला चुके हैं। एक अनुमान के अनुसार 2001 से 2005 के बीच अमेरिका में 40 प्रतिशत रोज़गार वृद्धि आवास उद्योग में वृद्धि के कारण हुई। आवासीय सम्पत्ति के मूल्यों में ज़बर्दस्त वृद्धि के कारण भी उसी किस्म का 'वेल्थ इफेक्ट' पैदा हुआ जैसा शेयरों का दाम बढ़ने के कारण हुआ था। इसने भी उपभोग को बढ़ावा दिया। अब हम देख चुके हैं कि यह 'ईज़ी मनी' किस तरह से तरलता को बेहद बढ़ाकर वित्तीय बाज़ार की अस्थिरता को

बढ़ावा देती है और किस तरह से निम्न ब्याज दरों और अन्धाधुन्ध बुरे ऋण देने से सबप्राइम संकट पैदा हुआ जो अब पूरी विश्व अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर रहा है। इस संकट ने क्रेडिट क्रंच, असमाधेयता और तरलता में अत्यधिक कमी की समस्या खड़ी कर दी है जिसने पूरी दुनिया की वास्तविक अर्थव्यवस्था को हिलाना शुरू कर दिया है। अमेरिका में शुरू हुई यह मन्दी इस दशक की तीसरी मन्दी है और सम्भवतः यह इन तीनों में सबसे बड़ी साबित होने जा रही है। इस संकट का तात्कालिक कारण सट्टेबाज़ पूँजी में देखा जा सकता है लेकिन दरअसल यह अति-उत्पादन और पूँज़ी की प्रचुरता का संकट है, जिसके निवेश के लिए लाभदायक निवेश स्थान ही नहीं बचे हैं। लिहाज़ा, यह पूँजी अनुत्पादक हो चुकी है और शेयर बाज़ार और सट्टेबाज़ी में लगकर पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था (वास्तविक वाली!!) को डावाँडोल कर रही है।

गौर करने लायक बात यह है कि 1970 के दशक के संकट के बाद से, या कहा जाय कि 'स्वर्ण युग' की समाप्ति के बाद से विश्व पूँजीवाद में तेज़ी के दौर अधिक विरल होते गये हैं और मन्दी सर्वव्यापी और निरन्तर बनती गयी है। कहना चाहिए कि विश्व पूँजीवादी तंत्र सतत एक मन्दी का शिकार है, जिसमें कभी-कभी थोड़ी कमी आती है। मन्दी में कभी-कभार आने वाली कमी को ही अब तेज़ी या बूम कह दिया जाता है। इसका साफ़ सबूत यह है कि 1970 बल्कि 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध से ही पूरे विश्व का सकल घरेलू उत्पाद लगातार कम होता जा रहा है। उसकी वृद्धि दर में लगातार कमी आती जा रही है।

कीन्सियाई नुस्खों के कारगर होने में विश्व पूँजीवाद के चौधरियों का यक़ीन अमेरिका में केनेडी के दौर या 'स्वर्णिम युग' की समाप्ति के साथ ही ख़त्म हो गया था। केनेडी के युग में आई आर्थिक तेज़ी के लिए कई कारक ज़िम्मेदार थे। इसमें एक तो द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद दुनिया भर में पुनर्निर्माण के ठेकों से अमेरिका को हुआ अतिलाभ था, तो दूसरी तरफ तथाकथित 'ऑटोमोबाइल क्रान्ति' थी। उस समय भी अमेरिका में एक किस्म का वेल्थ इफेक्ट पैदा हुआ था जिसके कारण उपभोग में भारी वृद्धि हुई थी। वह अमेरिकी पूँजीवाद का स्वर्णिम दौर था, जिसे केनेडी युग के नाम से भी जाना जाता है। आज भी, ख़ास तौर पर, मन्दी के दौरों में अमेरिकी मध्य वर्ग के बड़े-बुजुर्ग बड़ा नॉस्टैल्जिक होकर उस युग को याद करते हैं। लेकिन 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में यह तेज़ी का दौर ख़त्म हो गया और लोगों का धीरे-धीरे इस बात से यक़ीन भी उठने लगा कि राज्य के सही समय पर उचित हस्तक्षेप से पूँजीवाद को चक्रीय संकट से बचाया जा सकता है और इस तरह पूँजीवाद को अजर-अमर बनाया जा सकता है, जैसा कि हकीम कीन्स के नुस्खे के फटे-चिथड़े कागज पर धुली हुई लिखाई में लिखा था। जल्दी ही दुनिया भर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं ने पूँजी की प्रचुरता के संकट को हल करने के लिए 'कल्याणकारी राज्य' का मुखौटा नोचकर फेंकना शुरू कर दिया जो उनका दम घोंट रहा था। पूँजी को उत्पादक निवेश और सट्टेबाज़ी के लिए बाज़ार और विस्तार चाहिए था। और यह कीन्सियाई नुस्खे के अमल में रहते नहीं हो सकता था। लेकिन यह अपरिहार्य था, और यही किया भी गया।

लेकिन कीन्सियाई नुस्खों के खारिज किए जाने के बाद से पूरे विश्व पूँजीवाद ने एक गिरावट की प्रवृत्ति देखी है। पूँजीवाद के विजयी और अमर होने की सभी उत्तर-आधुनिक घोषणाओं की पोल बस अर्थव्यवस्था पर ही एक निगाह डाल लेने से खुल जाती है, जो एक संकट से लदी, बेरोज़गारी और ठहराव का शिकार अर्थव्यवस्था है। वर्ल्ड बैंक के वैश्विक आर्थिक सम्भावनाएँ नामक वार्षिक विश्लेषण के अनुसार 1960 के दशक और 1973 के बीच में विश्व आर्थिक वृद्धि की दर थी 5.2 प्रतिशत। यानी, पहले तेल संकट से पहले तक। इसेक बाद 1974 से 1990 के बीच यह दर घटकर 3 प्रतिशत रह गयी और 1991 से 1997 के बीच यह और अधिक घटकर 2.3 प्रतिशत रह गयी।

अगर दशकीय वृद्धि दरों की तुलना की जाय तो विश्व अर्थव्यवस्था के संकट की और साफ तस्वीर सामने आ जाती है।

वृद्धि दरों मे यह कमी विश्व के सबसे उन्नत पूँजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था की रफ्तार में कमी आने के कारण हुई है। इसके कई कारण हैं। अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता के संकट के कारण वित्तीय विस्तार की नीति को अपनाना पूँजीवाद के समक्ष उपलब्ध एकमात्र विकल्प था। वित्तीय विस्तार और वित्तीय पूँजी बाज़ारों के पैदा होने और उनके आपस में जुड़ते जाने, और उत्पादक निवेश की सम्भावनाएँ पूँजीवाद के दायरे के भीतर नगण्य होते जाने के साथ ही, पूँजी का चरित्र अधिक से अधिक अनुत्पादक और जुआरी होते जाने के कारण सरकारों के पास जनकल्याण और अवसंरचनागत क्षेत्र में निवेश के लिए ताकत नहीं रह गयी है। ऐसा पूरी अर्थव्यवस्था के ढह जाने की कीमत पर ही किया जा सकता है। अगर किसी भी देश में सरकार रोज़गार को बढ़ाने के लिए और उत्पादन को बढ़ाने के लिए अपने ख़र्चों को बढ़ाने का विकल्प चुनती है तो यह मुद्रास्फीति को बढ़ावा देगा और इसके कारण व्यापार घाटे में वृद्धि होगी और साथ ही वित्तीय सम्पत्ति का अवमूल्यन होगा। इसके कारण उस देश की अर्थव्यवस्था में निवेश करने वाले निवेशक, देशी भी और विदेशी भी, अपनी पूँजी का विनिवेश करेंगे और यह पूरी मुद्रा के औंधे मुँह गिर जाने के रूप में परिणामित होगा। इसलिए आज, यानी साम्राज्यवाद के भूमण्डलीकरण के दौर में, जब दुनिया भर में कुल पूँजी निवेश का लगभग 90 फीसदी हिस्सा अनुत्पादक हो चुका है, जब पूँजी अधिकाधिक अनुत्पादक हो चुकी है, जब दुनिया भर के वित्तीय बाज़ार इस हद तक एक-दूसरे से जुड़ चुके हों, किसी भी देश की पूँजीवादी सरकार के लिए यह सम्भव नहीं रह गया है कि वह रोज़गार को बढ़ावा देने के लिए वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश करे। यह किसी भी पूँजीवादी देश की

इच्छा से स्वतंत्र हो चुका है। अगर कोई सरकार चाहे भी तो ऐसा नहीं कर सकती है। यह पूरी अर्थव्यवस्था को ढहा देगा। इसलिए पूँजीवाद एक असमाधेय समस्या का शिकार हो चुका है। वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश न होने के कारण, रोज़गार अवसरों के पैदा न होने के कारण जनअसन्तोष तीसरी दुनिया के पूँजीवादी देशों में ही नहीं बल्कि उन उन्नत पूँजीवादी देशों में भी बढ़ रहा है जहाँ की सरकारें दुनिया भर में अपनी साम्राज्यवादी लूट की बदौलत अपने देश के मज़दूर वर्ग को रिश्वत देकर उसका मुँह बन्द रखने का काम करती हैं।

इसीलिए अभी दुनिया भर में पूँजीवादी सरकारें द्रविड़ प्राणायाम करके अपने ख़र्चों को कम करने की कोशिश में लगी रहती हैं ताकि अपने बजट घाटे को कम कर सकें जो कीमतों के लगातार लाभ स्तर से नीचे गिरने का कारण बनती है, जिसे हम *डिफ्लेशन* नाम से भी जानते हैं। कीमतों का इस तरह से गिरना धीमे आर्थिक विकास का कारण बनता है। यानी की सरकारी या सार्वजनिक ख़र्चों को घटाना आज विश्व पूँजीवाद के पदसोपान क्रम में किसी भी स्थान पर खड़े देश की सरकार के लिए एक मजबूरी है। सार्वजनिक खर्च जो आर्थिक वृद्धि दे सकता है वह आर्थिक वृद्धि वह दे चुका और अब पूँजीवाद इस सार्वजनिक खर्च को अफोर्ड नहीं कर सकता। इसलिए वृद्धि एक ही स्रोत रह जाता है–निजी खर्चे। निजी खर्च का अर्थ है उपभोक्ता सामग्रियों पर होने वाला ख़र्च। इसी से जो वृद्धि पैदा होती है वह अर्थव्यवस्था के लिए ऑक्सीजन सिलेण्डर का काम करती है। लेकिन इस सिलेण्डर में भी अब ऑक्सीजन ख़त्म होने की तरफ़ तेज़ी से बढ़ रही है और मरीज़ को हिचकियाँ आ रही हैं। कारण हम सबप्राइम संकट के विश्लेषण में देख चुके हैं। वित्तीय पूँजी के अनुत्पादक और सट्टेबाज़ होते जाने के कारण पूँजीवाद बूम-बस्ट के अपने चक्रीय संकट से उबर नहीं पा रहा है, बल्कि इस संकट की बारम्बारता बढ़ती जा रही है। यह वास्तविक आय के घटने का कारण बन रहा है जिसके कारण ख़रीद में कमी आ रही है, जो भूमण्डलीकरण के दौर में आर्थिक वृद्धि का एकमात्र स्रोत रह गया है। इसलिए अब ऋण वित्तपोषण से उपभोग को बढ़ावा देने की कोशिशें की गयीं हैं। लेकिन उसके विनाशकारी परिणाम भी हमारे सामने हैं जब विश्व पूँजीवाद का चौधरी अपने पैदा किए गए सबप्राइम संकट की मार से धराशायी होता नज़र आ रहा है। तरलता को बढ़ाकर उपभोग का वित्तपोषण करने की युक्ति मुसीबत बनकर पूरे विश्व वित्तीय पूँजी बाज़ार पर टूट पड़ी है।

हम अपने उपरोक्त विश्लेषण के जरिये समझ सकते हैं कि ऋण द्वारा वित्तपोषित कोई भी उपभोग, निवेश या किसी भी अन्य तरह की आर्थिक तेज़ी न सिर्फ वृद्धि की दर को कम करती जाती है बल्कि पूरे पूँजीवादी अर्थतंत्र को संकटों के सामने और अरक्षित बना देती है। एक ओर पूँजीवाद में अस्थिरता बढ़ती जाती है और दूसरी ओर वृद्धि भी ख़त्म होती जाती है। यानी एक मन्द मन्दी लगातार बरकरार रहती है जो समय-समय पर किसी बड़ी मन्दी में तब्दील होती रहती है। सबप्राइम संकट में यही बात साबित हो रही है। जिस-जिस बात की आशंका अर्थशास्त्रियों ने अभिव्यक्त की थी, बिल्कुल वही हो रहा है। सबप्राइम संकट के कारण डॉलर का ह्रास हो रहा है जो पूरी विश्व अर्थव्यवस्था को एक लम्बी मन्दी की ओर धकेल रहा है। इससे बचने का कोई तात्कालिक रास्ता तो समझ में नहीं आ रहा है।

(*दायित्वबोध* से साभार)

पाठक मंच

(पेज 4 से आगे)

आह्वान इंकलाब का परचम है...

आदरणीय भाई।

'आह्वान' मिली। 'आह्वान' मानवता के हित इंकलाब का परचम है। इसकी अन्तर्वस्तुओं में गूँजती बातें, इंकलाब का नारा है, भुजाओं का फड़कना और मुट्ठियों का भिंचना, कुछ कर गुज़रने के संकल्प की प्रतिबद्धता है। मूल्यों के हित क्रान्ति के इस हरावल दस्ते में देश के हर युवा की एकजुटता ज़रूरी है। एक नया मानवीय इतिहास रचने को सदियों से शोषित-वंचित और उत्पीड़ित मानवता के हित दरिन्दों के ख़िलाफ़ कुछ सार्थक कर गुज़रना ही आदमी होने की पहचान है। मैं सोचता हूँ कि काश, अपनी रचनाधर्मिता के अलावा कुछ और कर पाता।

–डा. गिरिजा शंकर मोदी,

प्रिय साथी,

'आह्वान' की सदस्यता भेज रहा हूँ। यह पत्रिका आर्थिक कारणों के कारणों कभी नहीं रुकने पाएगी। मैं आपके साथ हूँ।

–भूपेन्द्र प्रतिबद्ध, चण्डीगढ़

एक अपील

'आह्वान कैम्पस टाइम्स' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए–हमारी यह दृढ़ मान्यता है।

अतः हम अपने सभी पाठकों-शुभचिन्तकों-सहयोगियों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मजबूती प्रदान करें।!

पाकिस्तानी शायर अफ़ज़ाल अहमद की कविताएँ

शायरी मैंने ईजाद की

काग़ज़ मराकशियों ने ईजाद किया
हरुफ फीनिशियों ने
शायरी मैंने ईजाद की

कब्र खोदने वाले ने तन्दूर ईजाद किया
तन्दूर पर कब्ज़ा करने वालों ने रोटी की पर्ची बनाई
रोटी लेने वालों ने कतार ईजाद की
और मिलकर गाना सीखा

रोटी की कतार में जब चींटियाँ भी आ खड़ी हो गईं
तो फ़ाका ईजाद हुआ

शहतूत बेचने वालों ने रेशम का कीड़ा ईजाद किया
शायरी ने रेशम से लड़कियों के लिबास बनाये
रेशम में मलबूस लड़कियों के लिए कुटनियों ने महलसरा ईजाद की
जहाँ जाकर उन्होंने रेशम के कीड़े का पता बता दिया

फासले ने घोड़े के चार पाँव ईजाद किये
तेज़ रफ़्तारी ने रथ बनाया
और जब शिकस्त ईजाद हुई
तो मुझे तेज़ रफ़्तार रथ के आगे लिटा दिया गया

मगर उस वक़्त तक शायरी ईजाद हो चुकी थी
मुहब्बत ने दिल ईजाद किया
दिल ने खेमा और कश्तियाँ बनाईं
और दूर-दराज मकामात तय किये

ख़्वाज़ासरा ने मछली पकड़ने का काँटा ईजाद किया
और सोये हुए दिल में चुभोकर भाग गया
दिल में चुभे हुए काँटे की डोर थामने के लिए
नीलामी ईजाद की
और
ज़बर ने आख़िरी बोली ईजाद की

मैंने सारी शायरी बेचकर आग ख़रीदी
और ज़बर का हाथ जला दिया

.....

मराकिशी–मोरक्को के मिराकिश शहर निवासी
फीनिशी–फीनिश के निवासी
महलसरा–अन्तःपुर, हरम
खेमा–तम्बू
ख़्वाज़ासरा–हरम का रखवाला हिंजड़ा
ज़बर–अत्याचार

अगर उन्हें मालूम हो जाये

अगर उन्हें मालूम हो जाये
हमें कैसे मारा जा सकता है

वो ज़िन्दगी को डराते हैं
मौत को रिश्वत देते हैं
उसकी आँख पर पट्टी बाँध देते हैं

वो हमें तोहफे में खंज़र भेजते हैं
और उम्मीद रखते हैं कि
हम खुद को हलाक कर लेंगे

वो चिड़ियाघर में
शेर के पिंजरे की जाली को कमज़ोर रखते हैं
और जब हम वहाँ सैर को जाते हैं
उस दिन वे शेर का रातिब बन्द कर देते हैं
जब चाँद टूटा-फूटा नहीं होता

वो हमें एक जज़ीरे की सैर को बुलाते हैं
जहाँ न मारे जाने की जमानत का काग़ज़
वो कश्ती में इधर-उधर कर देते हैं

अगर उन्हें मालूम हो जाये
वो अच्छे कातिल नहीं
तो वो काँपने लगें
और उनकी नौकरियाँ छिन जायें

वो हमारे मारे जाने का ख़्वाब देखते हैं
और ताबीर की किताबों को जला देते हैं
वो हमारे नाम की क़ब्र खोदते हैं
और उसमें लूट का माल छिपा देते हैं

अगर उन्हें मालूम भी हो जाये
कि हमें कैसे मारा जा सकता है
फिर भी वे हमें नहीं मार सकते

.....

रातिब–दाना-पानी
जज़ीरा–टापू

गुलदस्ते और दावतनामा

हम जो मौसिक़ी सुनने पहुँच जाते हैं
मौसिकार के लिए
किसी गुलदस्ते के बग़ैर
और नहीं जानते
पियानो के कितने पाये होते हैं
हम जिन्हें देखकर
कोई किसी खाली नशिस्त की तरफ़ इशारा नहीं करता
हम जो दीवार से लगकर खड़े हो जाते हैं
जहाँ बिल अखिर हमें खड़ा किया जाना है
क्वालीकोड से पियानो तक
मौसिक़ी ने बड़ा सफ़र तय किया है
जैसे हमने
खुद को दावतनामे के बग़ैर
बड़े दरवाज़े से आख़िरी दीवार तक पहुँचाया है
अपनी पेशकश के बाद
मौसिकार
तशक्कुर में झुक रही है
अब उसे फर्श पर ख़ून नज़र आयेगा
हमारा ख़ून
जो हर जगह
गुलदस्ते
और दावतनामे के बग़ैर
हमसे पहले पहुँच जाता है

.....

नशिस्त–सीट
बिल अखिर–अन्त में
तशक्कुर में–आभार में

तौक़ और ताबीज़

उस वक़्त का
जब तहरीर ईजाद हो चुकी थी
काँसे का एक टुकड़ा
नाकाबिले शिकस्त शीशों के पीछे
महफ़ूज़ है

कभी एक तौक़ से बँधे हुए इस टुकड़े पर
'कहीं मैं भाग न जाऊँ
मुझे पकड़ लो
और मेरे आका विवेण्टियस की ज़मीनों पर
वापस कैलिस्टस भेज दो'

नीचे लिखा है...
माहिरीन
इस ताबीज़ को किसी कुत्ते की गर्दन से
मुनसलिक करते हैं

.....

तहरीर–लिखावट
नाकाबिले शिकस्त–जिन्हें तोड़ा न जा सके
मुनसलिक करना–जोड़ना
तौक़–क़ैदियों के गले में ज़ंजीर से लटकाया जाने वाला वज़नदार बिल्ला

प्रेम, परम्परा और विद्रोह

(पेज 32 से जारी)

प्रेम और विवाह के ये रूप विश्व इतिहास के रंगमंच पर पूँजीवाद के विजय-अभियान के प्रारम्भ तक बने रहे। विवाह का प्राचीन और मध्यकालीन रूप पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के लिए भी सर्वथा उपयुक्त था, लेकिन विडम्बना यह थी कि सामन्ती विशेषाधिकारों, पुराने परम्परागत सम्बन्धों, रीति-रिवाजों और ऐतिहासिक अधिकारों की जगह क्रय-विक्रय और "स्वतंत्र" क़रार को स्थापित किये बिना कच्चे माल, श्रम शक्ति और वर्कशापों के उत्पाद सहित हर चीज़ को बिकाऊ माल बनाना सम्भव ही नहीं था। और यह "स्वतंत्र" क़रार "स्वतंत्र" और "समान" लोगों के बीच ही सम्भव था। पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों की वैचारिक-सांस्कृतिक पूर्वपीठिका तैयार करते हुए यूरोप के पुनर्जागरणकालीन महामानवों ने, लूथर और काल्वैं के धर्म-सुधार आन्दोलन ने और प्रबोधनकालीन दार्शनिकों ने मध्ययुगीन निरंकुशता की बेड़ियों को तोड़ने के लिए जनमानस को तैयार करते हुए जो काम किया, वह एक महान प्रगतिशील ऐतिहासिक काम था, पर वस्तुगत तौर पर वह बुर्जुआ वर्ग के हितों की ही विचारधारात्मक अभिव्यक्ति था। धर्म-सुधार आन्दोलन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि हर व्यक्ति केवल तभी अपने कार्यों के लिए पूर्णतः ज़िम्मेदार माना जायेगा जब वह पूरी आज़ादी के साथ काम करे; और हर आदमी का नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अनैतिक कार्य करने के हर दबाव का विरोध करे। पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के लिए ज़रूरी "स्वतंत्र" व्यक्तियों के बीच "स्वतंत्र" क़रार की स्थिति बनाने में यह नैतिक-सामाजिक नियम सहायक था, पर एक आम नियम के तौर पर इसका चलन में आना जाहिरा तौर पर विवाह की पुरानी संस्था पर भी चोट पहुँचाने वाला था। ठीक इसी प्रकार पुनर्जागरणकाल के महानायकों ने मानवतावाद के सिद्धान्त-प्रतिपादन द्वारा जब सामन्ती विशेषाधिकारों की अलौकिक स्वीकृति पर चोट की तो यह विवाह की अलौकिक स्वीकृति पर भी एक चोट बन गयी। विवाह के पीछे नियति नहीं, बल्कि "स्वतंत्र" मनुष्यों की "स्वतंत्र" पारस्परिक सहमति होती है, इस तर्क की स्वीकार्यता के बाद आधुनिक युग के यौन-प्रेम के मनोभाव का जन्म होना ही था। इसतरह, हालाँकि पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का मध्ययुगीन विवाह-प्रथा से कोई बैर-भाव नहीं था, लेकिन पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की स्थापना के लिए बुर्जुआ वर्ग की राजनीतिक विजय तथा उसके लिए बुर्जुआ मानवतावादी एवं जनवादी विचारों का जनमानस पर प्रभावी होना ज़रूरी था और इस प्रक्रिया की अनिवार्य तार्किक परिणति थी, तमाम सामाजिक संस्थाओं के साथ ही मध्यकालीन विवाह और परिवार संस्था में आमूल परिवर्तन। पुनर्जागरणकाल के दार्शनिक जब इस काम को कर रहे थे तो वे बुर्जुआ वर्ग और पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के सचेतन हित-साधन का काम नहीं कर रहे थे। उनके महान आदर्श पहले से ही व्यवस्थित हो चुके बुर्जुआ समाज की परिस्थितियों में नहीं, बल्कि *"आम क्रान्ति के बीच"* विकसित हुए थे। यह उनकी इच्छा से स्वतंत्र था कि उन आदर्शों का मूर्त रूप बुर्जुआ सामाजिक ढाँचे के रूप में ही सामने आना था। उन्हें मानवता को कुछ मध्ययुगीन बुराइयों से छुटकारा दिलाना था और कुछ ऐसे आदर्शों की अनश्वर मशाल जलानी थी, जिन्हें पूँजीवादी व्यवस्था के अन्त तक मानव जाति अपना प्रेरणा-स्रोत मानकर चलेगी। पुनर्जागरण-काल के दौरान सामाजिक सम्बन्ध अविराम रूप से गतिशील और परिवर्तनशील थे और अभी वे व्यक्तिगत पहल, प्रतिभा और योग्यताओं के विकास को काफ़ी हद तक रोकने वाली ऐसी शक्ति नहीं बने थे, जैसा कि वे बुर्जुआ समाज में बने। इसी के चलते पुनर्जागरण के नायकों के बारे में एंगेल्स ने लिखा है : *"बुर्जुआ वर्ग के आधुनिक शासन के संस्थापक स्वयं बुर्जुआ परिसीमाओं से सर्वथा मुक्त थे"* और यह भी कि, *"उस युग के नायक अभी तक श्रम-विभाजन की दासता से बँधे नहीं थे, जिसके एकांगीपन पैदा करने वाले, संकुचनकारी प्रभाव हम उनके उत्तरवर्तियों में पाते हैं"* (फ्रेडरिक एंगेल्स : *'डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर', पृ. 2-3, इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1963)*। यही वह विशिष्टता थी जिसके चलते पुनर्जागरणकाल के मानवतावाद, व्यक्तिवाद और लौकिकतावाद के युगान्तरकारी विचारों ने जनजीवन पर उतना गहरा प्रभाव छोड़ा, जितना पहले शायद कभी किसी क्रान्ति द्वारा प्रसूत विचारों ने नहीं छोड़ा था। इन विचारों ने पहली बार स्त्री को सम्भोगनीय और शिशुप्रसवा जीव से इतर, भावनाओं से युक्त स्वतंत्र अस्मिता वाली नागरिक मानने का आधार तैयार किया और आधुनिक यौन-प्रेम, रोमानी प्रेम या भावावेगी प्रेम (पैशल लव) की अवधारणा पैदा हुई। सौन्दर्य, काम-भावना (पाशविक आवेग से भिन्न सौन्दर्याकर्षण और साहचर्य-प्रेरित ऐन्द्रिक आकर्षण), ऐन्द्रिकता आदि की नयी अवधारणाएँ भी इसी आधार पर पैदा हुईं। इनके ऐतिहासिक साक्ष्य हम पुनर्जागरणकालीन चित्रकला, महाकाव्यों और नाटकों में आसानी से पा सकते हैं।

महान फ्रांसीसी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार करने वाले प्रबोधनकाल (एज ऑफ एनलाइटेनमेण्ट) दार्शनिकों के बारे में भी काफ़ी हद तक वही बातें कही जा सकती हैं, जो पुनर्जागरण के नायकों की क्रान्तिकारी विशिष्टता और उसके वस्तुगत कारणों के बारे में ऊपर कही गयी हैं। प्रबोधन सामाजिक-राजनीतिक-दार्शनिक-कलात्मक चिन्तन के क्षेत्र में एक आन्दोलन-मात्र नहीं था बल्कि फ्रांसीसी क्रान्ति की पूर्वबेला में सामन्तवाद-निरंकुशतावाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए उठ खड़े हो रहे, अग्रगामी बुर्जुआ वर्ग के हितों की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति था। स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के जनवादी आदर्शों और तर्कणा को निर्णय की कसौटी बनाने के विचार ने व्यापक जनमानस को प्रभावित किया तो स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर और

स्त्री अधिकारों पर भी लाजिमी तौर पर इसका प्रभाव पड़ना ही था। पहली बार प्रेम के अधिकार को और विवाह के मामले में जोड़े के स्वतंत्र निर्णय के अधिकार को इस हद तक सामाजिक मान्यता मिली कि चर्च को भी इसे अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ा।

लेकिन बुर्जुआ वर्ग की विजय के बाद, इन सभी आदर्शों का एक प्रहसनात्मक व्यंग्य-चित्र सामने आया। समय ने सिद्ध किया कि प्रबोधनकालीन विचार बुर्जुआ जीवन के यथार्थ के एक आदर्शीकृत अमूर्तन के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे। स्वतंत्रता का व्यावहारिक रूप शोषण की स्वतंत्रता और श्रमशक्ति बेचने की स्वतंत्रता के रूप में तथा छोटे मालिकों और किसानों की सम्पत्ति से "स्वतंत्रता" के रूप में सामने आया। शाश्वत न्याय ने बुर्जुआ न्याय में मूर्त रूप धारण किया। समानता क़ानून की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति की बुर्जुआ समानता में परिणत हो गयी। बुर्जुआ सम्पत्ति को मनुष्य का मौलिक अधिकार घोषित कर दिया गया। एंगेल्स के शब्दों में, *"जब फ्रांसीसी क्रान्ति ने इस तर्कबुद्धिसंगत समाज तथा इस तर्कबुद्धिसंगत राज्य को मूर्त रूप दिया, तो नयी संस्थाएँ पूर्ववर्ती व्यवस्थाओं की तुलना में अपनी सारी तर्कबुद्धिसंगतता के बावजूद पूर्ण तर्कबुद्धिसंगत कदापि नहीं सिद्ध हुईं।"* लोभ और लाभ की बुनियाद पर क़ायम इस नये समाज में, स्त्रियों की स्थिति में आये बदलाव उसे पूर्ण स्वतंत्र नागरिक कत्तई नहीं बना पाये। वह निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम और दोयम दर्जे की नागरिक बन गयी। घरेलू गुलामी के बन्धन रूप बदलकर बने रहे। ऐसे में व्यक्तिगत और यौन-प्रेम का प्रबोधनकालीन आदर्श मूर्त हो ही नहीं सकता था, क्योंकि वह स्त्रियों की समान सामाजिक हैसियत और निर्णय लेने की वास्तविक स्वतंत्रता के बिना सम्भव नहीं था। फ्रेडरिक एंगेल्स लिखते हैं : *"पहले सामन्ती दुराचार दिन-दहाड़े होता था, अब वह एकदम समाप्त तो नहीं हो गया था, पर कम से कम पृष्ठभूमि में ज़रूर चला गया था। उसके स्थान पर बुर्जुआ अनाचार, जो इसके पहले पर्दे के पीछे हुआ करता था, अब प्रचुर रूप में बढ़ने लगा था। व्यापार अधिकाधिक धोखाधड़ी बनता गया। क्रान्तिकारी आदर्श-सूत्र के "बंधुत्व" ने होड़ के संघर्ष की ठगी तथा प्रतिस्पर्धा में मूर्त रूप प्राप्त किया। बल तथा उत्पीड़न का स्थान भ्रष्टाचार ने ले लिया। सामाजिक सत्ता का उत्तोलक तलवार के स्थान पर सोना बन गया। नववधु के साथ पहली रात सोने का अधिकार सामन्ती प्रभुओं से पूँजीवादी कारख़ानेदारों के पास पहुँच गया। वेश्यावृत्ति में इतनी अधिक वृद्धि हो गयी, जो पहले कभी सुनी तक नहीं गयी थी। स्वयं विवाह-प्रथा पहले की तरह अब भी वेश्यावृत्ति का क़ानूनी मान्यता प्राप्त रूप तथा उसकी सरकारी आड़ बनी हुई थी, और इसके अलावा व्यापक परस्त्रीगमन उसके अनुपूरक का काम कर रहा था।"* (एंगेल्स : *'ड्यूहरिंग मत-खण्डन'*, मार्क्स-एंगेल्स : *'साहित्य और कला'* में उद्धृत, *पृ. 316-17, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981)*

पूँजीवादी विचारों के अनुसार, विवाह भी अन्य क़ानूनी क़रारों जैसा एक क़रार है और इस मायने में सबसे महत्वपूर्ण क़रार है कि उसके लिए दो व्यक्तियों के तन और मन का जीवन भर के लिए (जब तक क़रार की शर्त न टूटे) फैसला कर दिया जाता है। अतः सभी क़रारों की तरह, इसमें भी दो युवा व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता के साथ अपने आप का, अपने शरीरों का उपयोग करने का निर्णय लेने का अधिकार मिलना चाहिए। यह वह युग था, जब पूरी दुनिया के बाज़ार पर कब्जा करने और पूँजी-संचय की आकांक्षा देशों की चौहद्दियों के अतिक्रमण के साथ ही सभी पुराने सामाजिक बन्धनों और परम्परागत विचारों को ध्वस्त कर रही थी। इसी क्रान्तिकारी युग में व्यक्तिगत यौन-प्रेम की नयी क्रान्तिकारी अवधारणा का विकास हुआ जो माल-उत्पादन की प्रणाली के स्थापित होने के बाद, सामाजिक जीवन में मूर्त रूप तो नहीं ले पायी, पर व्यक्तिगत यौन-प्रेम की यह भावना और आकांक्षा अपने आप में एक यथार्थ बन चुकी थी जिसने वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तकों को यह दिशा दी कि माल-उत्पादन की प्रणाली को समाप्त करके, स्त्री-पुरुष के बीच सच्चे एकनिष्ठ यौन-प्रेम को, इसकी राह में आड़े आने वाली आर्थिक बाध्यताओं और उन बाध्यताओं को सर्वाधिक मूर्त रूप में अभिव्यक्त करने वाली बुर्जुआ पारिवारिक संरचना को नष्ट करके, मानव-समाज की एक आम सच्चाई बनाया जा सकता है। पूँजीवाद ने कम से कम प्रेम विवाह के अधिकार (और प्रेम टूटने पर अलग होने के अधिकार) को मान्यता देने का एक प्रगतिशील काम किया; जिसे एक वास्तविकता बनाने का काम निजी सम्पत्ति पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों को समाप्त करने वाली अग्रवर्ती सामाजिक क्रान्ति का एजेण्डा बन गया। इस मायने में मार्क्सवाद ने पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति के स्थगित एजेण्डे को ही आगे बढ़ाया और स्पष्ट किया कि पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के उन्मूलन के साथ ही विवाह के पीछे पारस्परिक आकर्षण के अतिरिक्त कोई और कारण नहीं रह जायेगा और चूँकि यौन-प्रेम अपनी प्रकृति से ही एकान्तिक होता है, इसलिए उस स्थिति में यौन-प्रेम पर आधारित विवाह सच्चे मायने में एकनिष्ठ हुआ करेंगे। मार्क्स और एंगेल्स ने विवाह संस्था की अठारहवीं शताब्दी के विचारकों-लेखकों और फ्रांसीसी क्रान्ति द्वारा प्रस्तुत आलोचना को ही आगे बढ़ाया तथा तर्कसंगत बनाकर तार्किक निष्पत्ति तक पहुँचाया। उन्होंने स्वीकार किया है कि इन विचारकों ने और फ्रांसीसी क्रान्ति ने विवाह संस्था की बुनियाद को हिला दिया था (मार्क्स-एंगेल्स : *'जर्मन आइडियोलॉजी, पूर्वोद्धृत, पृ. 192-193)*। उनके विचार से, पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति का मूल लक्ष्य उन तमाम जंजीरों को तोड़ डालना है जो मनुष्य के मानवीय होने की राह में बाधा हैं। प्यार अपनी सार्वभौमिकता में प्यार के रूप में अभिव्यक्त हो, उसके लिए बुर्जुआ विवाह और बुर्जुआ परिवार के उन्मूलन को वे ज़रूरी मानते हैं। केवल तभी मनुष्य के प्राकृतिक और सामाजिक सारतत्व का 'आब्जेक्टिफ़िकेशन' हो सकेगा।

एक बुर्जुआ सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर यह सम्भव ही नहीं है, इस बात को अहसास के और अधिक गहरे धरातल पर जाकर समझने के लिए सामाजिक श्रम विभाजन से पैदा होने वाले परकीयरकण या अलगाव (एलियनेशन) की मार्क्सवादी अवधारणा पर भी थोड़ी चर्चा ज़रूरी है।

मार्क्सीय अवधारणा के रूप में परकीयकरण या अलगाव एक ऐसी क्रिया (और साथ ही अवस्था) है जिसमें मनुष्य (एक व्यक्ति, समूह, संस्था या समाज) (i) अपने स्वयं कार्यकलाप के परिणाम या श्रम के उत्पाद से (और स्वयं अपने कार्यकलाप या श्रम से), (ii) उस प्रकृति से, जिसमें वह रहता है, (iii) दूसरे मनुष्यों से और इन सबके परिणामस्वरूप (iv) स्वयं अपने आप से (ऐतिहासिक रूप से सृजित अपनी खुद की मानवीय सम्भावनाओं और मानवीय सारतत्व से) बेगाना हो जाता है। यानी परकीयकरण या अलगाव मनुष्य के व्यावहारिक कार्यकलाप की उपज (श्रम की उपज, मुद्रा, सामाजिक सम्बन्ध आदि) और सैद्धान्तिक भावनात्मक कार्यकलाप की उपज इन दोनों को, और साथ ही मनुष्य के गुणों और क्षमताओं को, ऐसी चीज़ों में बदल देने की प्रक्रिया और परिणाम है, जो लोगों से स्वतंत्र हो और जिसका उनपर प्रभुत्व हो। दूसरे, यह घटनाओं, प्रक्रियाओं और सम्बन्धों का उनके निज रूप से भिन्न किसी वस्तु में रूपान्तरण है तथा, जीवन में लोगों के वास्तविक सम्बन्धों का, उनकी चेतना में विकृतिकरण है। आगे चलकर, कुछ मार्क्सवादी विद्वानों ने अलगाव के विभिन्न रूपों का प्रवर्गीकरण करने की भी कोशिश की। जैसे, एडम शैफ (Adam Schaff) ने इसके दो बुनियादी रूपों की बात की है : वस्तुगत अलगाव (या सामान्य अलगाव) और मनोगत अलगाव। शाक्तेल (Schachtel) ने इसकी चार श्रेणियाँ बनाई हैं : मनुष्यों का प्रकृति से अलगाव, अपने साथ के मनुष्यों से अलगाव, अपने हाथों और दिमाग़ के कामों से अलगाव और स्वयं से अलगाव। सीमैन ने इसकी पाँच श्रेणियाँ निर्धारित की है : अधिकारहीनता, सार्थकताहीनता, सामाजिक पार्थक्य, प्रतिमानहीनता (नॉर्मलेसनेस) और आत्मविच्छिन्नता (सेल्फ-एस्ट्रेंजमेण्ट) (देखिए : *'ए डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट,' पृ. 15, माया ब्लैकवेल वर्ल्डन्यू रेफरेंस, इण्डियन रीप्रिण्ट, नई दिल्ली, 2000)*। ये सख़्त या जड़ीभूत प्रवर्गीकरण इन अर्थों में ठीक नहीं है क्योंकि ये एक ही सामाजिक परिघटना के विविध वस्तुगत और मनोगत आयाम या पहलू हैं।

मार्क्स के विचार से अलगाव समाज-विकास की एक निश्चित मंजिल के अन्तरविरोधों को व्यक्त करता है। वह श्रम-विभाजन से जन्मा और निजी स्वामित्व से जुड़ा हुआ है। ऐसी अवस्थाओं में सामाजिक सम्बन्ध स्वयंस्फूर्त ढंग से बनते हैं और लोगों के नियंत्रण से बाहर हो जाते हैं जबकि कार्यकलाप के फलों और उपजों का व्यक्तियों और सामाजिक समूहों से अलगाव हो जाता है और वे या तो दूसरे लोगों द्वारा या किसी अलौकिक शक्ति द्वारा थोपी गयी वस्तु के रूप में प्रकट होते हैं। अलगाव-विषयक मार्क्स की अवधारणा उनके द्वारा *"विच्छिन्न श्रम"* या *"वियोजित श्रम"* (इस्ट्रेंज्ड लेबर) की विवेचना में स्पष्ट होकर सामने आती है। मार्क्स ने स्पष्ट किया कि श्रम की किसी वस्तु में समाविष्ट ऐसा श्रम, जो मूर्त हो गया है, श्रम का वस्तुकरण (आब्जेक्टिफिकेशन) है और निजी सम्पत्ति द्वारा शासित समाज में श्रम का वस्तुकरण अनिवार्यतः श्रमिक को जीवन के आनन्दों से वंचित करता है, उसे अपने श्रम के वस्तु का दास बना देता है। उसके श्रम का उत्पाद उसके लिए एक बेगाना उत्पाद बन जाता है और वस्तुकृत श्रम परकीयकृत या अलगाव-भूत (एलियनेटेड) श्रम बन जाता है। श्रम-प्रक्रिया अपनी सृजनात्मक अन्तर्वस्तु को खो देती है और श्रमिक के लिए उसमें कोई आकर्षण नहीं रह जाता। श्रमिक के पास इसके लिए कोई प्रेरणा नहीं होती कि वह सौन्दर्य के नियमों और सार्वजनिक आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन करे। अपनी शारीरिक-मानसिक शक्ति के स्वेच्छया विकास से वंचित मात्र पशुवत् आदिम आवश्यकताओं के साथ जीता हुआ वह पशु-सदृश हो जाता है, मनुष्य के सन्निहित गुणों से रिक्त हो जाता है तथा अमूर्तन, स्वप्न और कल्पना की शक्ति को, प्यार की मानवीय सम्भावनाओं को खो देता है। वह स्वयं अपनी बेड़ियाँ बनाता है। वह अपना रह ही नहीं जाता बल्कि पूँजी के स्वामी का हो जाता है। यानी अलगाव मनुष्य को मनुष्य से और मानवीय गुणों-सम्भावनाओं से अलग कर देता है। इस रूप में हर अलगाव, अनिवार्यतः आत्मअलगाव भी होता है। (इस विस्तृत विवेचना के लिए देखें, मार्क्स : *'इकोनॉमिक एण्ड फिलॉसोफिक मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844', फर्स्ट मैन्युस्क्रिप्ट, 'इस्ट्रेन्ज्ड लेबर', पृ. 66-80, नेशनल बुक एजेंसी, कलकत्ता, 1993)*।

अलगाव के बुनियादी वस्तुगत कारणों की विवेचना, उसके रूपों के उद्घाटन और रैडिकल आलोचना का समाहार मार्क्स इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि रैडिकल क्रान्ति के द्वारा पूँजीवादी श्रम-विभाजन को और निजी सम्पत्ति को समाप्त करके ही मनुष्य के विघटित व्यक्तित्व को पुनस्संगठित किया जा सकता है, उसके आत्मनिर्वासन और आत्म-अलगाव की स्थिति का अतिक्रमण किया जा सकता है और स्वयं तक उसकी वापसी को, मनुष्य द्वारा मनुष्य के लिए मानव-प्रकृति की बहाली को सम्भव बनाया जा सकता है। पूँजीवादी सामाजिक श्रम-विभाजन को समाप्त करके ही वि-अलगाव या वि-परकीयकरण (डी-एलियनेशन) को सम्भव बनाया जा सकता है और व्यक्तिगत एकान्तिक यौन-प्रेम या रोमानी प्रेम या भावावेगी प्रेम (पैशन लव) का जो आदर्श प्रबोधन-काल के विचारकों और यूटोपियाई समाजवादियों ने प्रस्तुत किया था, उसे एक यथार्थ में रूपान्तरित किया जा सकता है।

यहाँ पर एक भ्रान्ति का निवारण भी ज़रूरी है। मार्क्स जब मानव-प्रकृति या मानवीय सारतत्व की फिर से बहाली की और मनुष्य की मनुष्य तक वापसी की बात करते हैं तो उनका मतलब न तो मानव-प्रकृति या मानवीय सारतत्व को जड़ या अपरिवर्तनीय मानने से है, न ही अनैतिहासिक ढंग से वे यह मानते हैं कि ऐसी कोई अचल संकल्पना या चीज़ अतीत में यथार्थ रूप में मौजूद थी, फिर खो गयी और अब उसे फिर से हासिल करना है। अलगाव को मार्क्सवाद किसी तथ्यात्मक या आदर्श ('नॉर्मेटिव') मानव-प्रकृति से नहीं बल्कि ऐतिहासिक रूप से सृजित मानवीय सम्भावनाओं से अलगाव के रूप में, विशेषकर स्वतंत्रता और सर्जनात्मकता की मानवीय क्षमता से अलगाव के रूप में देखता-समझता है। आत्म-अलगाव की अवधारणा मनुष्य की किसी जड़, अनैतिहासिक अवधारणा प्रस्तुत करने के बजाय मनुष्य के सतत्-पुनर्नवीकरण और विकास की प्रक्रिया को संवेग प्रदान करने का आह्वान करती है। जैसा कि मिलान कांग्रगा कहते

हैं, आत्म-अलगाव का शिकार होने का मतलब है अपने कार्य से अलगाव, आत्म-सक्रियता से, आत्म-उत्पादन से, आत्म-सर्जना से अलगाव, मानव-व्यवहार और एक मानवीय उत्पाद के रूप में इतिहास से अलगाव *('एक डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट' में उद्धृत, पूर्वोद्धृत, पृ. 14)*। यानी एक मनुष्य के अलगावग्रस्त या आत्म-अलगावग्रस्त होने का मतलब है कि उसके सतत् मनुष्य होने की क्रिया रुक गयी है और बनी-बनायी दुनिया में जीते हुए वह व्यावहारिक-आलोचनात्मक ढंग से, क्रान्तिकारी ढंग से सक्रिय नहीं है। यानी जैसा कि ए.पी. ओगुर्त्सोव *(सोवियत इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसोफी)* कहते हैं, अलगाव एक दार्शनिक और समाजशास्त्रीय प्रवर्ग है जो मनुष्य के कार्यकलापों और उसके परिणामों के, ऐसी स्वतंत्र शक्तियों में वस्तुगत रूपान्तरण को अभिव्यक्त करता है, जो उस पर आधिपत्य कायम कर लेती हैं और उसके प्रतिकूल होती हैं। साथ ही, यह सामाजिक प्रक्रिया की एक सक्रिय मनोगत शक्ति से एक वस्तु में मनुष्य के रूपान्तरण की क्रिया को भी अभिव्यक्त करती है।

उपरोक्त भ्रान्ति का निवारण इसलिए ज़रूरी था कि हम इस बात को जान लें कि सवाल अतीत में मौजूद मानवीय प्यार या मूल्य के किसी प्रतिमान की पुनर्प्राप्ति का नहीं है। सवाल मनुष्य के प्राकृतिक जगत से क्रमशः दूर जाते हुए, ज़्यादा से ज़्यादा मनुष्य होते जाने के उस गुण को फिर से हासिल करने का है जिसे वर्ग-समाज के विकास के दौरान, व्यक्तित्व के विघटन के साथ खोने की प्रक्रिया पूँजीवाद के वर्तमान वार्धक्य-काल तक अपने चरम तक जा पहुँची है। मानवीय प्रेम के उन्नत आदर्श की अवधारणा पूँजीवाद (वर्ग-समाज की अन्तिम मंजिल) के शैशव-काल में ही जन्म ले सकती थी। जीवन में हर चीज़ अपने प्रतिकूल पहलू के साथ ही अस्तित्व में आती है। पूँजीवादी समाज में व्यक्तित्व और मानवीय सारतत्व के चरम विघटन के साथ ही उनके निषेध के पहलू उनके पुनस्संघटन के विचार और मार्ग को, अस्तित्व में आना था और फिर निश्चित ही इतिहास की गति उस दिशा में जायेगी जब यह दूसरा पहलू (सर्वहारा क्रान्ति के बाद और समाजवादी संक्रमण की दीर्घावधि के दौरान) प्रधान पहलू बन जायेगा, और वर्ग-विहीन समाज में निजी सम्पत्ति-सम्बन्धों के आधार और उससे उत्पन्न अधिरचना के पूर्ण विलोपन के बाद ही मनुष्य और सच्चे मानवीय प्यार के आदर्श सम्पूर्ण अर्थों में वस्तुगत यथार्थ बन सकेंगे।

एक और भ्रान्ति का निवारण यहाँ ज़रूरी है। ऐसा नहीं है कि पूँजीवादी सामाजिक श्रम-विभाजन के अन्तर्गत केवल मज़दूर ही मनुष्यता से, समाज से और मानवीय मूल्यों-भावनाओं से अलगाव का शिकार है। चूँकि श्रम-प्रक्रिया समाज का बुनियाद होती है, इसलिए मज़दूर का अलगाव सबसे बुनियादी अलगाव होता है। लेकिन समाज के अन्य वर्ग भी अलगाव और आत्म-अलगाव के समान रूप से शिकार होते हैं। शारीरिक श्रम करने वाले मज़दूर के अतिरिक्त मानसिक श्रम करने वाले और पूँजीवादी उत्पादन-तंत्र के प्रबन्धन-संचालन के दफ़्तरी कामों और पूरक सेवा-क्षेत्र से जुड़े मध्यवर्ग के लोग भी अपने कार्यकलापों के परिणाम से अपरिचित और विच्छिन्न होते हैं, वे उत्पादन-प्रक्रिया से विच्छिन्न होते हैं और सबसे नैसर्गिक मानवीय गुण-श्रम से विच्छिन्न होते हैं। इस नाते वे और अधिक मनोरोगी स्तर पर आत्म-अलगाव के शिकार होते हैं। जबतक मानसिक श्रम की श्रेष्ठता सहित सभी बुर्जुआ अधिकार और उनपर आधारित अन्तर्वैयक्तिक असमानताएँ बनी रहेंगी, तबतक यह स्थिति बनी रहेगी। पूँजीपति भी सामाजिक उत्पादन की बुनियादी कार्रवाई से पूर्णतः विच्छिन्न केवल अधिशेष निचोड़ने के लक्ष्य के लिए जीता है। *पूँजी कोई चीज़ नहीं होती बल्कि वह समाज की सुनिश्चित ऐतिहासिक संरचना में निहित सुनिश्चित सामाजिक उत्पादन-सम्बन्ध होती है जो एक चीज़ के रूप में अभिव्यक्त होती है और उस चीज़ को विशिष्ट सामाजिक चरित्र देती है* (विस्तृत विवेचना के लिए देखें, *पूँजी, खण्ड-3, अध्याय-48)*। पूँजीपति जिसका एकमात्र लक्ष्य पूँजी-संचय होता है, वह मनुष्य रह ही नहीं जाता। उसके लिए उत्पादन का लक्ष्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं बल्कि मुनाफ़ा होता है। उसके सभी सपने और सुख की सभी अवधारणाएँ मुनाफ़ा के इर्द-गिर्द निर्मित होती है। वह स्वयं *पूँजी का व्यक्ति-रूप* ('कैपिटल परसॉनिफायड') होता है। पत्नी भी उसके लिए अपने पूँजी-साम्राज्य का उत्तराधिकारी पैदा करने वाले उत्पादन के साधन से अधिक कुछ नहीं होती और उसे वह प्यार भी उसी रूप में करता है। पूँजी खुद जीन-लगाम कसकर पूँजीपति पर सवार उसे दिन-रात दौड़ाती रहती है। वह स्वयं अपनी आत्म अलगावग्रस्त चेतना से जिसे प्यार, आनन्द या जीवनोपभोग समझता है, वह वास्तव में एक विकृत और मिथ्या चेतना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मार्क्स ने इस बात पर बल दिया कि बुर्जुआ समाज के सभी वर्गों के लोगों में व्याप्त अलगाव के सभी रूपों का आधार श्रम का अलगाव है। इसी के चलते वास्तविक, सामाजिक अन्तरविरोध विकृत और मिथ्या चेतना के रूप में परावर्तित, अभिव्यक्त और प्रतिफलित होते हैं।

अलगाव-विषयक इस पूरी चर्चा का उद्देश्य इस बात को स्पष्ट करना है कि बुर्जुआ समाज में सच्चे अर्थों में प्रेम की स्वतंत्रता सम्भव ही नहीं है। सामाजिक श्रम-विभाजन न केवल प्रेम, विवाह-सम्बन्ध और परिवार में स्त्री को बराबरी का दर्ज़ा नहीं देता बल्कि मानवीय प्यार के आधुनिक मनुष्य के समक्ष उपस्थित आदर्श को जीवन का यथार्थ बनने की भी इज़ाज़त नहीं देता क्योंकि बुर्जुआ नागरिक (स्त्री-पुरुष) आत्म-अलगाव और भावना, सम्बन्ध आदि हर चीज़ को वस्तु के रूप में देखने की मानसिकता (रीइफ़िकेशन) से ग्रस्त होने के कारण प्यार करने में अक्षम है, वे आत्मनिर्वासित आत्माओं वाले लोग हैं। जाहिर है कि बुर्जुआ श्रम-विभाजन की समाप्ति ही इस स्थिति को बदल सकती है। अतः किसी भी सूरत में, भारत जैसे देशों में आज भी मौजूद मध्ययुगीन बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह की बात करते हुए बुर्जुआ प्रेम का आदर्शीकरण नहीं करना होगा, क्योंकि इसकी विद्रूपताएँ भी भारतीय जीवन का समकालीन यथार्थ बन चुकी हैं, (पश्चिम में तो पहले ही ऐसा हो चुका था)। हमें बुर्जुआ जनवाद के सीमान्तों का अतिक्रमण करना होगा और समाजवादी परियोजना के आत्मिक-सांस्कृतिक पक्षों पर सोचना होगा।

पूँजीवादी उत्पादन के क्षेत्र में श्रम-विभाजन जिस प्रकार

समाज को शोषक-उत्पीड़क और शोषित-उत्पीड़ित के दो परस्पर-विरोधी पक्षों में बाँट देता है, उसी प्रकार यह परिवार के भीतर मानवीय पुनरुत्पादन के दायरे में भी स्त्री और पुरुष को क्रमशः गुलाम और मालिक का दर्जा दे देता है और इसी बुनियाद से ऐतिहासिक विकासक्रम में विकसित हुए प्रेम के दायरे में भी पुरुष को कृपाशील दाता और स्त्री को विवश और कृतज्ञ प्राप्तकर्ता बना देता है। स्त्री को सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा के लिए किसी पुरुष को प्यार करने के मिथ्याभास में जीते हुए अन्ततः शरीर-समर्पण करना ही होता है। और पुरुष ऐसा अनुग्रह कई स्त्रियों पर करने के लिए स्वतंत्र होता है। वह ऐसा करने वाली स्त्री को "प्यार" करने की कृपा करता है और इस मायने में आदिम 'ईरोस' और व्यभिचार की मानसिकता में जीते हुए स्त्री को एक शरीर या सेक्स के मूर्त रूप से अधिक कुछ नहीं समझता। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि एक बुर्जुआ नागरिक को सबसे अधिक ख़तरनाक स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व लगता है, पर विडम्बना यह है कि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली की स्वतंत्र आन्तरिक गति से स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वतंत्र अस्मिता का पैदा होना भी अपरिहार्य है। जो निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम हैं उनमें यह स्वतंत्रता (आर्थिक स्वनिर्भरता के चलते) बुर्जुआ और मध्यवर्गीय स्त्रियों से (उनकी स्वतंत्र चेतना तो वस्तुतः एक विकृत या मिथ्याभासी चेतना है) कई गुना अधिक होती है और सर्वहारा पुरुष भी उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकारने के लिए तैयार होते हैं। जीवन-साथी चुनने-त्यागने या पारिवारिक निर्णयों में भागीदारी के मामले में एक हद तक की वास्तविक आज़ादी यदि दीखती भी है तो सर्वहारा स्त्रियों में ही दीखती है। यानी बुर्जुआ समाज ने कथनी में प्यार करने के अधिकार को पुरुषों के साथ ही स्त्रियों का भी अधिकार माना, पर यह अधिकार एक सीमित हद तक यदि लागू भी हुआ तो उत्पीड़ित वर्ग के बीच ही, जबकि अन्य अधिकार शासक वर्ग तक सीमित बने रहे और उत्पीड़ित वर्ग से प्रत्यक्ष-परोक्ष ढंग से छीने जाते रहे। यह भी इतिहास का एक व्यंग्य ही है। कुछ निश्चित आर्थिक प्रभावों के कारण शोषक वर्गों में वास्तविक स्वेच्छा से जीवन-साथी के चुनाव या पारिवारिक निर्णयों में स्त्रियों की भागीदारी की मिसालें कम मिलती हैं, जबकि मेहनतकशों में स्थिति इसके विपरीत होती है (एंगेल्स : *'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति', पूर्वोद्धृत, पृ. 96)*। भारत में भी उभरता हुआ और संख्यात्मक रूप से बढ़ता हुआ सर्वहारा वर्ग जैसे-जैसे किसानी ज़मीन और संस्कारों से मुक्त होता जा रहा है और जैसे-जैसे स्त्रियों की भारी आबादी उजरती मज़दूरों की कतारों में शामिल होती जा रही हैं, वैसे-वैसे यह स्थिति ज़्यादा से ज़्यादा स्पष्ट होती जा रही है।

श्रम विभाजन से स्त्री की पारिवारिक गुलामी को जोड़ते हुए मार्क्स लिखते हैं : *"श्रम-विभाजन, जिसमें ये सभी अन्तरविरोध अन्तर्निहित होते हैं और जो बदले में परिवार में श्रम के प्राकृतिक विभाजन पर तथा परस्पर विरोधी अलग-अलग परिवारों में समाज के पृथक्करण पर आधारित होता है, उसके साथ-साथ श्रम और उसके उत्पाद का और इसलिए सम्पत्ति का* वितरण, *और जाहिरा तौर पर परिमाणात्मक एवं गुणात्मक, दोनों ही रूपों में* असमान *वितरण, अस्तित्व में आता है : यही वह नाभिक है जिसका पहला रूप परिवार में मौजूद होता है, जहाँ पत्नी और बच्चे पति के गुलाम होते हैं। परिवार में यह प्रच्छन्न, हालाँकि फिर भी अत्यन्त भोंड़ी गुलामी ही पहली सम्पत्ति है..."* (मार्क्स : *'जर्मन आइडियोलॉजी', पूर्वोद्धृत, पृ. 44)*। आगे चलकर, निजी सम्पत्ति का अग्रवर्ती विकास ही पारिवारिक जीवन के रूपों के विकास को अनुकूलित करती है। परिवार राज्यसत्ता और नागरिक समाज का आधार होता है, पर निजी सम्पत्ति और श्रम-विभाजन इसे सामुदायिक चौहद्दी से बाहर (एक पृथक् घरेलू अर्थव्यवस्था के रूप में) एक निजी चीज़ बना देते हैं। परिवार ही वह व्यावहारिक बुनियाद है जिसपर बुर्जुआ वर्ग का आधिपत्य विकसित हुआ। (बुर्जुआ) परिवार की संस्था निहायत व्यावहारिक मामलों पर आर्थिक मसलों पर टिकी होती है। बुर्जुआ समाज में परिवार की स्वतंत्र मान्यता या स्त्री-पुरुष की पारस्परिक चाहत नहीं बल्कि आम तौर पर बोरियत और वित्तीय हित ही लोगों को विवाह के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिए, व्यवहारतः परिवार संस्था के सारहीन और विघटित हो जाने के बावजूद, औपचारिक रूप से यह बनी रहती है क्योंकि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली और नागरिक समाज के लिए इसका बना रहना ज़रूरी है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही फ्रांस और इंग्लैण्ड के समाजवादियों और जर्मन दार्शनिकों ने इस सच्चाई को रेखांकित किया था और आलोचनात्मक यथार्थवाद के पुरोधाओं ने अपने उपन्यासों में पारिवारिक जीवन के तनावों-त्रासदियों और विघटन की आन्तरिक गति को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया था। इसके चन्द उदाहरणों के तौर पर तोल्स्तोय की *'अन्ना कारेनिना'*, फील्डिंग की *'टॉम जोन्स'*, जार्ज इलियट की *'मिडिल मार्च'*, गाल्सवर्दी की *'द फोरसाइट सागा'*, हचिंसन की *'दिस फ्रीडम'*, स्टर्न की *'द मैट्रियार्क'* और पर्लबक की *'ड्रैगन सीड'* जैसी साहित्यिक कृतियों का नाम लिया जा सकता है। मार्क्स और एंगेल्स ने इसी आलोचना को एक ऐतिहासिक वैज्ञानिक आधार पर आगे विकसित किया। परिवार के विघटन को उन्होंने दो रूपों में देखा : पहला, वह *वास्तविक विघटन* जो दरअसल हो रहा है क्योंकि स्वयं बुर्जुआ वर्ग इसका कर्त्ता है, और दूसरा वह *आवश्यक या वांछनीय विघटन*, जो इस स्थिति की सचेतन स्वीकृति और सर्वहारा क्रान्ति द्वारा शुरू की जाने वाली वि-अलगाव (डी-एलियनेशन) की प्रक्रिया द्वारा परिवार के बुर्जुआ स्वरूप के उन्मूलन की स्वीकृति पर आधारित है। सिद्धान्त और व्यवहार में परिवार यदि अभी भी मौजूद है तो इसलिए कि बुर्जुआ आधिपत्य इसी आधार पर टिका हुआ है। अपने अन्तर्य से ही पाखण्डी, बुर्जुआ मनुष्य इस संस्था की शर्तों का पालन नहीं करता, लेकिन फिर भी, आम तौर पर, इसे बनाये रखता है। व्यक्तियों के स्तर पर, सिद्धान्त और व्यवहार में, परिवार का निषेध किया जाता है, लेकिन समाज के स्तर पर, सिद्धान्त और व्यवहार में, इसे बरक़रार रखा जाता है। अलगावग्रस्त अस्तित्व की नीरसता और खालीपन, आर्थिक हित, विवाह और परिवार की तमाम सैद्धान्तिक आलोचनाओं और उनके व्यावहारिक टूटन के बावजूद पूँजीवादी उद्योग, व्यापार एवं वित्तीय तंत्र के मालिक और प्रबन्ध-तंत्र के कर्ता-धर्ता, बुर्जुआ राज्य मशीनरी के कर्ता-धर्ता

बुर्जुआ नागरिक, बुर्जुआ स्वतंत्र पेशेवर लोग और बुर्जुआ बुद्धिजीवी विवाह एवं परिवार के *वास्तविक* विघटन की दिशा में कत्तई आगे नहीं बढ़ते। बुर्जुआ अस्तित्व का आम पाखण्ड दो सेक्सों के बीच सम्बन्ध का एक काल्पनिक पवित्र संसार रचता है, जो विमानवीकृत 'रीइफ़िकेशन' के रूप में क़ायम अपनी वास्तविकता में वस्तुतः एक कुरूप और गन्दी चीज़ होती है। और वही पाखण्ड, जीवन की कुरूप आनुभविक सच्चाई पर निर्भर होने के नाते, विवाह और परिवार की वचनबद्धता से पलायन और आपातकालीन निकास-द्वार के रूप में बदचलनी, नाजायज़ रिश्तों और वेश्यागमन का इस्तेमाल करता है। बुर्जुआ समाज में रहते हुए शासकवर्ग के वर्चस्वशील मूल्यों और संस्कृति के शिकार मेहनतकश भी होते हैं, जीवन का खालीपन उन्हें भी विमानवीकृत और अलगावग्रस्त करके व्यभिचार-अनाचार की ओर धकेलता है, लेकिन निजी सम्पत्ति से जुड़ा कोई आर्थिक हित नहीं होने के कारण रिश्ते बनाने, चलाने और तोड़ने के मामले में उनके जीवन में स्वेच्छा का तत्व अधिक काम करता है। दूसरे, उनके वहाँ व्याप्त व्यभिचार और जीवन की कुरूपता पर पाखण्ड का कोई पर्दा नहीं होता। इस मायने में सापेक्षतः उनका जीवन नैतिक अधिक होता है। हाँ, भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी समाजों में, मेहनतकश जीवन में जाति-धर्म आदि की प्राक्पूँजीवादी जकड़बन्दी की घुटनभरी सड़ांध ज़रूर अभी भी मौजूद है, जिस बुराई को पूँजीवाद अपना भी रहा है तथा बुर्जुआ बुराई द्वारा विस्थापित भी कर रहा है।

बुर्जुआ नागरिक जब स्त्री को भोग्या, दासी और आनन्दोपभोग की वस्तु मानता है, तो मार्क्स के अनुसार वह अपने स्वयं के ही सीमाहीन पतन, अलगाव और अलगावजन्य विमानवीकरण को अभिव्यक्त करता है। विवाहेतर यौन-सम्बन्ध, विशेषकर हर नये-पुराने रूप के वेश्यागमन में मनुष्य की सच्ची सामाजिक प्रकृति का यह अलगाव सर्वाधिक सघन एवं प्रातिनिधिक अभिव्यक्ति पाता है क्योंकि वेश्यावृत्ति एक ऐसे व्यापारिक रिश्ते पर आधारित होती है जो वेश्या स्त्री से अधिक, उसके पास जाने वाले पुरुष को अलगावग्रस्त और आत्म-अलगाव का शिकार बनाती है, उसे एक ऐसी अन्तरात्मा बना देती है जो मालों के द्वीप पर आत्मनिर्वासित है जहाँ खरीद-फरोख़्त के अतिरिक्त और कोई मानवीय भावनात्मक क्रिया-व्यापार होता ही नहीं। अपने इर्द-गिर्द के सभ्य समाज में चल रही पार्टियों, इण्टरनेट और ब्लू फिल्मों द्वारा परोसी जा रही यौन विकृतियों, बुर्जुआ कारोबारों के ऑफिसों, क्लबों-रिसार्टों, मसाज सेण्टरों और कालगर्ल्स की दुनिया पर निगाह डालिये, आपको इस बात की सच्चाई का सहज अहसास हो जायेगा। बुर्जुआ समाज का यह सूत्र-वाक्य है कि सब कुछ खरीद पाने की शक्ति रखने वाली मुद्रा मानवीय भावनाओं, रिश्तों और प्यार को भी खरीद सकती है। जैसा कि मार्क्स बताते हैं, मुद्रा स्वयं एक सार्वभौमिक वेश्या है और कौमों और राष्ट्रों की सर्वसामान्य कुटनी है जो मानवीय आवश्यकता और उसकी पूर्ति के साधनों के बीच, मनुष्य और उसके जीवन के बीच, एक मनुष्य और अन्य मनुष्यों के बीच सौदेबाज़ी कराने और रिश्ते पटाने का काम करती है। मुद्रा प्राणियों और सामुदायिक मानव जाति के सभी नैसर्गिक गुणों को गड्डमड्ड कर देती है, उन्हें उलट देती है और उनके वैपरीत्यों के साथ उनका विनिमय कर देती है। *"यह अन्तरविरोधों को आपस में आलिंगनबद्ध करा देती है।"* आगे मार्क्स लिखते हैं : *"मनुष्य को मनुष्य और संसार के साथ उसके सम्बन्धों को आप मानवीय मान लीजिए : तब फिर आप प्रेम का केवल प्रेम के साथ, विश्वास का विश्वास के साथ, आदि-आदि. .. विनिमय कर सकते हैं। यदि आप कला का आस्वादन करना चाहते हैं तो आपको कलात्मक दृष्टि से परिष्कृत व्यक्ति होना चाहिए, यदि आप दूसरे लोगों पर प्रभाव डालना चाहते हैं तो आपको दूसरे लोगों पर स्फूर्तिप्रद और उत्साहवर्द्धक प्रभाव डालने वाला व्यक्ति होना चाहिए। मनुष्य और प्रकृति के साथ, आपके प्रत्येक सम्बन्ध को, आपकी कामना की वस्तु के अनुरूप, आपके वास्तविक वैयक्तिक जीवन की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यदि आप बदले में प्रेम जगाये बिना प्रेम करते हैं यानी अगर प्रेम के रूप में आपका प्रेम जवाबी प्रेम नहीं पैदा करता; यदि प्रेम करने वाले एक व्यक्ति के रूप में आप स्वयं की एक जीवन्त अभिव्यक्ति के रूप में अपने को प्रेम पाने वाला व्यक्ति नहीं बना पाते, तो आपका प्यार निश्शक्त है एक दुर्भाग्य है* (मार्क्स : *दि इकोनॉमिक एण्ड फिलॉसोफिक मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844, पूर्वोद्धृत, पृ. 169)*।

स्त्री-पुरुष के बीच अन्योन्य क्रिया के रूप में प्यार और पूरी बराबरी और आज़ादी पर आधारित भावनात्मक-दैहिक सम्बन्ध को सम्भव बनाने के लिए उनके सम्बन्ध को अलगाव-मुक्त (डीएलियनेट) करना अपरिहार्य है तथा विवाह के सभी बुर्जुआ रूपों को उनकी पूर्वशर्तों, परिस्थितियों और परिणतियों समेत अन्तर्वस्तु एवं रूप की दृष्टि से बदलना अपरिहार्य है। चूँकि परिवार भी एक विशिष्ट उत्पादन-प्रणाली है और इसके आम नियमों से स्वतंत्र नहीं है, इसलिए निजी सम्पत्ति और पृथक्कृत आर्थिक जीवन के उन्मूलन को परिवार के उन्मूलन से अलग करके नहीं देखा जा सकता (मार्क्स-एंगेल्स : *'जर्मन आइडियोलॉजी', पूर्वोद्धृत, पृ. 40, पृष्ठ के नीचे दी गयी टिप्पणी से)*। मार्क्स के अनुसार निजी सम्पत्ति का सकारात्मक, प्रभावी उन्मूलन ही समग्रता में सच्चे मानव जीवन की प्राप्ति और सभी अलगावों का आमूलगामी उन्मूलन है। इस प्रकार, स्त्री-पुरुष अपने जीवन और सम्बन्धों में अपने मानवीय अस्तित्व को साकार कर सकेंगे और उनका जीवन और बुर्जुआ परिवार का स्थान लेने वाली पारिवारिक इकाई अनिवार्यतः वैयक्तिक और सामुदायिक एक ही साथ दोनों होगी। विवाह के उन्मूलन का अर्थ किसी भी रूप में स्त्री का सामुदायिक दर्जा नहीं होगा, मानो कि वह कोई साझा सम्पत्ति हो, जैसा कि "भोंड़े और विचारहीन कम्युनिज़्म" की प्रत्येक धारा का मानना था (मार्क्स : *'दि इकोनॉमिक एण्ड फिलॉसोफिक मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844, पृ. 133)*। सवाल यहाँ निजी सम्पत्ति के उन्मूलन का है, न कि उसके सामान्यीकरण और विस्तार का है। मार्क्स यहाँ पूँजीवाद के सार्वत्रीकरण के लिए पूर्ववर्ती भोंड़े कम्युनिज़्म की आलोचना करते हैं क्योंकि यह मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रतिकूल है और समतलीकरण की किसी प्रक्रिया द्वारा मनुष्य की स्थिति का निर्धारण मनुष्य की विशिष्ट प्रकृति से कदापि मेल नहीं खाता।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में मानवीय अलगाव से मुक्ति मनुष्य के *"मानवीय, यानी सामाजिक अस्तित्व"* को बहाल करना है (मार्क्स : *वही*)।

सामाजिक संरचनागत उपादानों को अलग करके देखें, तो मार्क्स का यह कहना सही है कि *"सेक्सुअल क्रियाकलाप शरीर का सर्वोच्च कार्य है"* (मार्क्स : *'हेगेल्स फिलॉसोफी ऑफ राइट', पृ. 40, कैम्ब्रिज, 1970*)। लेकिन सेक्सुअल क्रियाकलाप को मार्क्स एक पाश्विक क्रिया या सम्भोग की क्रिया के रूप में नहीं देखते। वास्तविक व्यक्तिगत यौन-प्रेम में मार्क्स दैहिक आकर्षण और तज्जन्य सौन्दर्यात्मक-आत्मिक मनोभावों का संश्लिष्ट अमूर्तन देखते हैं, जहाँ रुचियों और विचारों की एकता के बिना, मात्र साहचर्य से यौनाकर्षण नहीं उत्पन्न होता। मार्क्स मानवीय सेक्सुअल क्रियाकलाप को विरुपित करने वाली और उसका दम घोंट देने वाली निजी सम्पत्ति की सत्ता और तज्जन्य अलगाव को अनावृत्त करते हैं। निजी सम्पत्ति के सामान्यीकरण के नियम के लिए हर विशिष्ट मानवीय परिघटना को एक नज़ीर बनाना पूँजीवाद का ही सार्वत्रीकरण हैं, और इसके बजाय मार्क्स एक ऐसे समाज की बात कर रहे हैं जहाँ हर ठोस मानवीय परिघटना या सम्बन्ध सार्वत्रिक मानवीय प्राकृतिक परिवेश को प्रतिबिम्बित करता हो। वे लिखते हैं : *"स्त्री को सामुदायिक काम-वासना की तृप्ति का माल और दासी समझने के दृष्टिकोण में वह असीमित अधःपतन अभिव्यक्त होता है जिसमें पुरुष सिर्फ़ अपने लिए अस्तित्वमान है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के रहस्य की* असंदिग्ध, *निर्णायक,* सुस्पष्ट *और अप्रच्छन्न अभिव्यक्ति* पुरुष *के* स्त्री *के साथ सम्बन्ध में और उस ढंग में सामने आती है जिसमें* प्रत्यक्ष *तथा* प्राकृतिक *जातिमूल-सम्बन्धी रिश्ते (स्पेसीज़ रिलेशनशिप) की कल्पना की जाती है। व्यक्ति का व्यक्ति के साथ प्रत्यक्ष, प्राकृतिक और आवश्यक सम्बन्ध* पुरुष का स्त्री से सम्बन्ध है। *इस नैसर्गिक जाति-मूल सम्बन्धी रिश्ते के अन्तर्गत मनुष्य का प्रकृति के साथ सम्बन्ध सीधे उनका मनुष्य के साथ सम्बन्ध है, ठीक वैसे ही जैसे उसका मनुष्य के साथ सम्बन्ध सीधे प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध है जो उसका नैसर्गिक लक्ष्य (नेचुरल डेस्टिनेशन) है। अतः इस रिश्ते में, जिस हद तक मानवीय सारतत्व मनुष्य के लिए प्रकृति बन गया है, उस हद तक ऐन्द्रिक रूप में (सेक्सुअली)* अभिव्यक्त, *प्रेक्षणीय तथ्य में परिणत होता है। इसलिए इस रिश्ते से मनुष्य के विकास के समग्र स्तर को जाना जा सकता है। इस रिश्ते के चरित्र से यह पता चलता है कि एक* जाति-मूल प्राणी *(स्पेसीज़-बीइंग) के रूप में, मनुष्य के रूप में मनुष्य स्वयं किस हद तक बन गया है और किस हद तक स्वयं को समझने लगा है, पुरुष का स्त्री के साथ सम्बन्ध मानव-प्राणी का मानव प्राणी के साथ* सबसे प्राकृतिक *सम्बन्ध है अतः यह इस बात को बतलाता है कि मनुष्य का* स्वाभाविक *आचरण किस हद तक मानवीय बन गया है, अथवा उसके भीतर का* मानवीय *सारतत्व किस हद तक प्राकृतिक सारतत्व बन गया है किस हद तक उसकी* मानवीय प्रकृति *उसके लिए प्राकृतिक बन गयी है। यह रिश्ता यह भी प्रकट करता है कि किस हद तक मनुष्य की* आवश्यकता *एक* मानवीय *आवश्यकता बन गयी है, अतः किस हद तक व्यक्ति के नाते दूसरा व्यक्ति उसके लिए एक आवश्यकता बन गया है किस हद तक अपने वैयक्तिक अस्तित्व के साथ-साथ वह एक सामाजिक प्राणी बन गया है"* (मार्क्स : *मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844, पूर्वोद्धृत, पृ. 134*)।

मार्क्स की यह तार्किक धारणा पूँजीवादी समाज की आन्तरिक गतिकी के अध्ययन का ही परिणाम थी कि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली और अलगाव की अनिवार्य समाप्ति के बाद, विवाह और परिवार के बुर्जुआ स्वरूप का भी उन्मूलन हो जायेगा, स्त्री-पुरुष स्वतंत्रता और समानता के साथ जोड़े बनायेंगे, स्त्रियाँ तब भोग एवं उत्पादन-पुनरुत्पादन का साधन नहीं होंगी, वे पुरुषों पर निर्भर नहीं होंगी, दम्पति नागरिक एवं आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होंगे, बच्चे अपने माता-पिता पर निर्भर नहीं होंगे और चूल्हे-चौकठ की दासता से मुक्त स्त्रियाँ सभी उत्पादक एवं सामाजिक कार्रवाइयों में बराबर की भागीदार होंगी। जैसा कि हम एंगेल्स को पहले ही उद्धृत कर चुके हैं, ये जीवन स्थितियाँ स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों को नहीं बल्कि एकान्तिक, एकनिष्ठ यौन-प्रेम और दाम्पत्य को जन्म देंगी क्योंकि यौन-प्रेम अपनी प्रकृति से ही एकान्तिक होता है। न केवल भोंड़े कम्युनिज़्म के प्रवर्तकों ने और अराजकतावादियों ने यौन सम्बन्धों की स्वच्छन्दता की बात की, बल्कि बुर्जुआ वर्ग मार्क्स के ज़माने से लेकर आजतक कम्युनिस्टों द्वारा "यौन-मुक्ति" और स्त्रियों के समाजीकरण का शोर मचाता रहा है (तथा बुर्जुआ नारीवादी भी स्त्री-दासता का कारण ऐतिहासिक-सामाजिक स्थितियों में नहीं बल्कि यौन भेद में देखते हुए "यौन-मुक्ति" के विविधरूपा विचार आज भी प्रस्तुत करती रहती हैं)। मार्क्स ने 1848 में इन कूपमण्डूकता और कुत्सापूर्ण अटकलों-तोहमतों का जो उत्तर दिया था, उसे इस पर और अधिक स्पष्टता के लिए हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं :

"बुर्जुआ अपनी पत्नी को एक उत्पादनोपकरण के सिवा और कुछ नहीं समझता। उसने सुन रखा है कि उत्पादन उपकरणों का सामूहिक रूप से उपयोग होगा और, स्वभावतः, वह इसके अलावा और कोई निष्कर्ष नहीं निकाल पाता कि सभी चीज़ों की तरह औरतें भी सभी के साझे की हो जायेंगी।

"वह यह सोच भी नहीं सकता कि दरअसल मक़सद यह है कि आम उत्पादन उपकरण होने की स्थिति का ही ख़ात्मा कर दिया जाये।

"बाकी तो बात यह है कि हमारे बुर्जुआ के औरतों के समाजीकरण के ख़िलाफ़, जो उसके दावे के मुताबिक कम्युनिस्टों द्वारा खुल्लमखुल्ला और आधिकारिक रूप से स्थापित किया जायेगा, सदाचारी आक्रोश से अधिक हास्यास्पद दूसरी और कोई चीज़ नहीं है। कम्युनिस्टों को स्त्रियों का समाजीकरण प्रचलित करने की कोई ज़रूरत नहीं है; उनकी यह स्थिति तो लगभग अनादि काल से चली आ रही है।

"हमारे बुर्जुआ इसी से सन्तोष न करके कि वे अपने मज़दूरों की बहू-बेटियों का अपनी मरज़ी के मुताबिक इस्तेमाल कर सकते हैं, सामान्य वेश्याओं की तो बात ही क्या, एक-दूसरे की बीवियों पर हाथ साफ़ करने में विशेष आनन्द प्राप्त करते हैं।

"बुर्जुआ विवाह वास्तव में साझे की पत्नियों की ही व्यवस्था है, इसलिए कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ अधिक से अधिक यही आरोप लगाया जा सकता है कि वे स्त्रियों के पाखण्ड पूर्वक छिपाये गये समाजीकरण की जगह खुले तौर पर क़ानूनी समाजीकरण लाना चाहते हैं। बाकी तो यह बात अपने आप में साफ है कि वर्तमान उत्पादन-पद्धति के उन्मूलन के साथ-साथ इस पद्धति से उत्पन्न स्त्रियों के समाजीकरण का, अर्थात खुली और ख़ानगी, दोनों ही प्रकार की वेश्यावृत्ति का अनिवार्यतः उन्मूलन हो जायेगा।" (मार्क्स-एंगेल्स *'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', पृ. 52, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, 1999)*

एक वर्ग-विहीन समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध से कौन-सी विकृतियाँ समाप्त हो जायेंगी, इसके बारे में आज की ज़मीन पर खड़ा होकर तो बस इतना ही तर्कसंगत अनुमान लगाया जा सकता है। प्रश्न की और अधिक स्पष्ट समझ के लिए कम्युनिस्ट भविष्य के बारे में हम एक बार फिर एंगेल्स को उद्धृत करना चाहेंगे :

"...एकनिष्ठ विवाह से वे सारी विशेषताएँ निश्चित रूप से मिट जायेंगी जो स्वामित्व-सम्बन्धों से उसके उत्पन्न होने के कारण पैदा हो गयी हैं। ये विशेषताएँ हैं : एक तो पुरुष का आधिपत्य, और दूसरे विवाह सम्बन्ध का अविच्छेद्य रूप। दाम्पत्य जीवन में पुरुष का अधिपत्य केवल उसके आर्थिक प्रभुत्व का एक परिणाम है और उस प्रभुत्व के मिटने पर वह अपने आप खतम हो जायेगा। विवाह-सम्बन्ध का अविच्छेद्य रूप कुछ हद तक उन आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है जिनमें एकनिष्ठ विवाह की उत्पत्ति हुई थी और कुछ हद तक वह उस समय से चली आती हुई एक परम्परा है जबकि इन आर्थिक परिस्थितियों तथा एकनिष्ठ विवाह के सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं समझा जाता था और धर्म ने उसे अतिरंजित कर दिया था। आज इस परम्परा में हज़ारों दरारें पड़ चुकी हैं। यदि प्रेम पर आधारित विवाह ही नैतिक होते हैं तो जाहिर है कि केवल वे विवाह ही नैतिक माने जायेंगे जिनमें प्रेम क़ायम रहता है। व्यक्तिगत यौन-प्रेम के आवेग की अवधि प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होती है। विशेषकर पुरुषों में तो इस मामले में बहुत ही अन्तर होता है। और प्रेम के निश्चित रूप से नष्ट हो जाने पर या किसी और व्यक्ति से उत्कट प्रेम हो जाने पर पति-पत्नी का अलग हो जाना दोनों पक्ष के लिए और समाज के लिए भी हितकारक बन जाता है। अलबत्ता, लोग तलाक की कार्रवाइयों के व्यर्थ के झंझटों से बच जायेंगे।

"अतएव, पूँजीवादी उत्पादन के आसन्न विनाश के बाद यौन-सम्बन्धों का स्वरूप क्या होगा, उसके बारे में आज हम केवल नकारात्मक अनुमान कर सकते हैं अभी हम केवल इतना कह सकते हैं कि क्या चीज़ें तब नहीं रहेंगी। परन्तु उसमें कौन सी नयी चीज़ें जुड़ जायेंगी? यह उस समय निश्चित होगा जब एक नयी पीढ़ी पनपेगी ऐसे पुरुषों की पीढ़ी जिसे जीवन भर कभी किसी नारी की देह को पैसा देकर या सामाजिक शक्ति के किसी अन्य साधन के द्वारा खरीदने का मौक़ा नहीं मिलेगा, और ऐसी नारियों की पीढ़ी जिसे कभी सच्चे प्रेम के सिवा और किसी कारण से किसी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण करने के लिए विवश नहीं होना पड़ेगा, और न ही जिसे आर्थिक परिणामों के भय से अपने को अपने प्रेमी के सामने आत्मसमर्पण करने से कभी रोकना पड़ेगा। और जब एक बार ऐसे स्त्री-पुरुष इस दुनिया में जन्म ले लेंगे, तब वे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करेंगे कि आज हमारी राय में उन्हें क्या करना चाहिए। वे स्वयं तय करेंगे कि उन्हें क्या करना चाहिए और उसके अनुसार वे स्वयं ही प्रत्येक व्यक्ति के आचरण के बारे में जनमत का निर्माण करेंगे और बस, मामला खतम हो जायेगा।" (फ्रे. एंगेल्स : *'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति'*, मार्क्स-एंगेल्स : *संकलित रचनाएँ, खण्ड-3, भाग-2, पूर्वोद्धृत, पृ. 97-98)*

(क्रमशः)

क्रान्ति से हमारा अभिप्राय है—अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन।....

समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं... इसके विपरीत समाज के जोंक पूँजीपति ज़रा-ज़रा सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

यह भयानक असमानता और ज़बर्दस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिए जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

—भगतसिंह व बटुकेश्वर दत्त (बम काण्ड पर सेशन कोर्ट में बयान)

सकर्मक विमर्श

संघ परिवार शाखाओं में बूढ़ो के बचे रह जाने पर चिन्तित!

● प्रसेन, दिल्ली

आजकल, हॉफ पैंटिया भगवा गिरोह थका-थका सा नज़र आ रहा है। "हिन्दू गौरव" का राग अलाप-अलाप कर हिन्दू लोगों का "पौरुष" जगाने की मुहिम में इनका खुद का ही "पौरुष" चुकता-सा प्रतीत हो रहा है। और हो भी क्यों न, संघ परिवार में सिर्फ बुड्ढे बचे है और फटे ढोल पर गाया जानेवाला इनका मरियल कीर्तन सुनकर इनकी विचारधारा पर जुड़ने वाले नौजवानों की संख्या लगातार घटती जा रही है।

अखबार में छपी एक ख़बर के मुताबिक, पिछले कुछ वर्षों में संघ परिवार की शाखाओं की संख्या 60 हज़ार से घटकर 20 हज़ार के करीब रह गयी है। पहले हर जगह संघ की दो शाखाएँ लगा करती थीं—तरुण और प्रौढ़। शाखाओं में युवा वर्ग की अरूचि के चलते दोनों वर्ग की शाखाओं को मिला दिया गया है! इसके बावजूद, एक तिहाई शाखाएँ बन्द हो गयी हैं!

आगे की ख़बर यह है कि इस स्थिति से उबरने के लिए आर.एस.एस. के दिग्गजों ने उद्योग जगत से मदद की गुहार लगाई है। राजधानी में झण्डेवालान स्थित संघ कार्यालय में 'खोये पौरुष को पुनः हासिल करने के लिए' बैठक की गयी, जिसमें दो प्रमुख उद्योगपति भी शामिल थे। इस बैठक में एक हिन्दू फण्ड बनाने की योजना को अन्तिम रूप दिया गया है। संघ का लक्ष्य पाँच हज़ार करोड़ रुपये तक का है। लेकिन फिलहाल फण्ड काफी कम रकम से शुरू किया जा रहाहै। फण्ड के सहारे एक तरफ़ दिल्ली और प्रदेश की राजधानियों में उच्च पदों पर बैठे नौकरशाहों और सेना के उच्च अधिकारियों के बीच नेटवर्क बनाकर उन्हें संघ की विचारधारा के नज़दीक लाने की कोशिश होगी। दूसरी तरफ, उद्योगपतियों की मदद से कारपोरेट जगत के युवा वर्ग को हिन्दू रंग में रंगने की मुहिम चलाई जायेगी।

तो तथ्य बता रहे हैं कि युवाओं में संघ परिवार के प्रति रुझान कम हुआ है और वह उसकी शाखाओं से दूर जा रहा है जबकि नयी भर्तियाँ नहीं हो रही हैं! संघ के संगठनकर्ता इसके कारणों की तलाश में लगे हैं। दरअसल, संघ में युवाओं की घटती दिलचस्पी के कई सम्भावित कारण हो सकते हैं। एक कारण तो यह है कि भूमण्डलीकरण के दौर भारत का बाज़ार अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार से कटकर नहीं रह सकता। बाज़ार में पूँजीपतियों का सबकुछ पैदा होता है—राष्ट्रवाद, संस्कृति, भाषा, आदि। आज जब मीडिया के माध्यम से देश का युवा विश्व पूँजीवाद और देसी पूँजीवाद के नये सांस्कृतिक प्रतीकों का अनुकरण कर रहा है, वैसे में पुनरुत्थानवादी साम्प्रदायिक फासीवाद अपने शुद्ध रूप में युवाओं के बीच में मुश्किल से ही लोकप्रिय हो सकता है। लेकिन इस तर्क को एक सीमा से आगे नहीं खींचा जाना चाहिए। आर्थिक संकट और ठहराव के चरम पर पहुँचने की स्थिति में एक बार फिर देश के युवाओं को "गौरवशाली हिन्दू अतीत" के बारे में बताया जाता है और आधुनिक प्रतीकों के ढहने के कारण वे एक बार फिर पुनरुत्थानवादी फासीवादी लहर में शामिल हो जाते हैं। ऐसा होगा ही या नहीं होगा, इसके बारे में नजूमी तरह कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। आज इतना कहा जा सकता है कि फिलहाल कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार हर वह काम कर रही है जिसकी उम्मीद और अपेक्षा पूँजीपति वर्ग भाजपा नीत राजग गठबन्धन से रखता है। लिहाज़ा, राष्ट्रीय राजनीति में "हिन्दू" फासीवादी कुछ समय के लिए साइडलाइन हो गये हैं। यद्यपि, राज्यों के विधानसभा चुनावों में कांग्रेसी सरकार की आर्थिक नीतियों के ख़िलाफ़ जनता का गुस्सा फूटा और उसने भाजपा को वोट डाला और जिताया। हालाँकि, अगर वोटिंग ही 50-55 फीसदी हो तो इससे कोई दूरगामी नतीजा नहीं निकाला जाना चाहिए। मूल मुद्दे पर लौटते हुए कहा जा सकता है, कि आज का मध्यवर्गीय युवा जो रिकी मार्टिन, एनरीके इग्लेसियस, मैडोना, फर्गी जैसों की नकल में और साथ ही शाहरुख़ ख़ान, सलमान ख़ान और अमिताभ बच्चन जैसे लोगों को अपना नायक मानने में लगा हुआ है, उसे धोती, खड़ाऊँ, गेरुआ, और कर्कश-फटे स्वर में "स्वर्णिम हिन्दू अतीत" का गुणगान बहुत आकर्षित नहीं कर पाता है।

दूसरे संघ की राजनीतिक शाखा भाजपा जाति-धर्म का ज़हर फैलाकर, साम्प्रदायिक दंगे भड़काकर "हिन्दुत्व" की जिस लहर पर सवार होकर हाशिए से केन्द्र तक पहँची है, चुनाव प्रचार के दौरान तमाम आस्थावानों से "हिन्दू गौरव स्थापना" का जो वायदा किया था, सत्ता में आने के बाद, व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर रहने की राजनीतिक मजबूरी के चलते उनको न पूरा कर पाने की वजह से उनकी आस्था कम हुई है। इन दिनों भाजपा और संघ परिवार के बीच खींच-तान को इसी परिपेक्ष्य में देखा जा सकता है। इसके अलावा व्यापारी तथा छोटे पूँजीपति वर्ग अपनी वर्गीय मानसिकता से भले ही संघ से नज़दीकी महसूस करे परन्तु दंगे-फसाद इत्यादि से पैदा होने वाली अनिश्चितता तथा उसके फलस्वरूप आर्थिक नुकसान से डरता है। निम्न मध्यम वर्ग के जिन पीले निराश बीमार चेहरे वाले नौजवानों में इन्हें बड़ी संख्या में युवा मिलते थे, उनका एक बड़ा हिस्सा पूँजी की मार के चलते आज सर्वहारा की जमात में जा कर खड़ा हुआ है। मेहनतकश आबादी में भी आज इनकी शाखाएँ हैं परन्तु उनके कामों और दैनिक दिनचर्या में इनका प्रोग्राम फिट नहीं हो पाता। नौकरशाहों तथा सेना के उच्च अधिकारियों के बीच नेटवर्क बनाने में इनकों आंशिक सफलता मिल सकती है क्योंकि अपने जातीय-धार्मिक पूर्वाग्रह तथा नौकरशाही-सेना के संसदीय राजनीति से अन्तरविरोधों के कारण असन्तुष्टों में से कुछ कट्टर निरकुंशता के पक्षपोषक हो जाते हैं। लेकिन यहाँ से 'मैन पावर' में आ रही कमी को पूरा करना मुश्किल है। उसके लिए लम्पट सर्वहाराओं को जुटाने के प्रयास भी संघ तेज़ कर रहा है।

कारपोरेट जगत के युवाओं को संघ यू ही लुभाने की कोशिश नहीं कर रहा है। वह जानता है कि कारपोरेट में जो नौजवान काम करते हैं उनकी स्थिति बहुत बुरी नहीं है और 'कारपोरेट लैडर' चढ़ना तो इहलोक में रहते हुए स्वर्ग की सीढ़ी चढ़ने जैसा है...चढ़ते जाओ-चढ़ते जाओ, पर यह कभी ख़त्म नहीं होती। तो कारपोरेट्स में काम करने वालों युवाओं को, उनकी पिछड़ी मानसिकता, असन्तुष्टि और कारपोरेट्स की एक खास किस्म की कार्यशैली के चलते इनके भड़काऊ धार्मिक कट्टरपंथ के नारों पर अपने साथ लेने का ख्वाब 'संघ परिवार' देख रहा है परन्तु यहाँ उनका यह ख्वाब बहुत साकार होता नज़र नहीं आ रहा है क्योंकि अनिश्चितता की मार यहाँ भी है।

उद्योगपतियों का भी एक छोटा हिस्सा ही इनके साथ आ सकता है जो मुनाफ़े की लूट में किसी तरह का नियत्रंण नहीं चाहता। वे फासीवाद का मेहनतकश आबादी का श्रम अधिकम निचोड़ लेने के लिए इस्तेमाल करना चाहता है। इनकी बैठक में दो उद्योगपतियों के शामिल होने का यही निहितार्थ है। परन्तु शासकवर्ग तथा अधिकांश दूरदर्शी उद्योगपति इसके नियंत्रित इस्तेमाल का पक्षधर है क्योंकि वह अधिक और अनियंत्रित लूट से लूट का साम्राज्य ही उखड़ जाने का खतरा महसूस करता है इसके अलावा संघ की विध्वंसात्मक प्रतिक्रियावादी कार्रवाई को खुली छूट देने से जो अनिश्चितता का माहौल पैदा होता है उससे होने वाले नुकसान का सबक पिछली घटनाओं में वह पा चुका है। कुल मिलाकर संघ परिवार की बुढ़ौती यूँ ही नहीं है। नौजवानों को जुटाने की स्थिति बन नहीं रही है जिनको ये धर्म भीरू गुण्डों में बदल सकें। हाँ! इस बात से इंकार नहीं किया जा पैसे के बल पर भाई के गुण्डों का गिरोह बनाने पर ज़ोर बढ़ा दें।

मीडिया ने फुलाया नौकरियाँ बढ़ने का गुब्बारा। नौजवानों के साथ एक मज़ाक!

● योगेश, दिल्ली

पिछले दिनों दो प्रमुख बाज़ारू मीडिया संस्थानों—इण्डिया टुडे और टाइम्स ऑफ इण्डिया, ने देश भर में नौकरियों की भरमार का जो हो-हल्ला मचाया, उसकी असलियत जानने के लिए कुछ और पढ़ने या कहने की जरूरत नहीं है, बस खुली आँखों से आस-पड़ोस में निगाह डालिये; आपको कई ऐसे नौजवान दिखेंगे जो किसी तरह थोड़ी-बहुत शिक्षा पाकर या महँगी होती शिक्षा के कारण अशिक्षित ही सड़कों पर चप्पल फटकारते हुए नौकरी के लिए घूम रहे है या कहीं मज़दूरी करके इतना ही कमा पाते है कि बस दो वक्त का खाना खा सके। शायद आप स्वयं उनमे से एक हों और नंगी आँखों से दिखती इस सच्चाई को देखकर कोई भी समझदार और संवेदनशील आदमी मीडिया द्वारा फैलाई गई इस धुन्ध की असलियत को समझ सकता है।

यह जानना ज़रूरी है कि मीडिया इस बारे में क्या परोस रहा है। इण्डिया टुडे के मई, 2007 के अंक में "नौकरियाँ ही नौकरियाँ" शीर्षक से प्रकाशित एक में ख़बर के 'विशेष रोजगार सर्वेक्षण' की मानें तो भारत के नौजवानों के लिए नौकरियाँ इतनी तेज़ी से बढ़ रही हैं कि मानो यह हर दरवाज़े पर खड़ी इन्तजार कर रही हो कि कब बच्चा नौजवान हो और उसे नौकरी दी जाए! इस तरह के दावों में टुटपुँजिया वर्ग का हिमायती अख़बार—'टाइम्स ऑफ इण्डिया' भी पीछे नहीं रहा, बल्कि और आगे बढ़ते हुए उसने जून, 2007 को एक मुख्य ख़बर छापी की भारत में 2000 से 2005 के बीच हर साल 1.13 लाख नौकरियाँ पैदा हुई हैं। इन दो ख़बरों के सन्दर्भ में हम यहाँ यह नहीं कहना चाहते कि अब नौकरियाँ मिलनीं बिल्कुल बन्द हो गयी हैं लेकिन इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जिन क्षेत्रों में अभी भी काम की सीमित सम्भावनाएँ हैं, उन्हें रोज़गार की परिभाषा में तो कतई नहीं रखा जा सकता है। सरकारी और संगठित क्षेत्रों में तो नौकरियाँ लगातार कम हो रही हैं और इस तथ्य को अलग-अलग सर्वे कई बार साबित करते रहे हैं। खुद प्रधानमन्त्री भी कह चुके है कि वर्तमान आर्थिक नीतियों से होने वाला विकास 'रोजगार विहीन विकास' होगा। दूसरा निजी और असंगठित क्षेत्रों में दिहाड़ी या ठेके पर जो काम मिल पा रहा है और जिसे पढ़े-लिखे व योग्यता वाले नौजवान भी करने को मज़बूर है, उसे रोज़गार इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि रोज़गार का अर्थ होता है—रोज काम की पक्की गारण्टी, अच्छा वेतन जिसमें वे अपनी सभी बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी कर सके। लेकिन फिलहाल असंगठित क्षेत्रों में जो काम मिल रहा है, उसमें रोज काम की गारण्टी नहीं है, और कामगारों से दस से बारह घण्टे या कभी इससे ज्यादा भी काम कराया जाता है। इसमें काम के दौरान मिलने वाली सुरक्षा व बुनियादी ज़रूरतों का भी अभाव रहता है। जबकि वेतन के नाम पर बस इतना दिया जाता है कि वह किसी तरह ज़िन्दा भर सके।

आज हमारे देश में बेरोज़गारी का आलम क्या है इसका अनुमान कभी-कभार छपने वाली इन ख़बरों से लगाया जाता सकता है। पिछली जून को कोलकत्ता में सरकारी लेबोरेट्री में अटेण्डेट (काम—शीशे साफ करना, वेतन-2600) के एक पद पर ठेके की नौकरी के लिए 348 में उम्मीदवार आ जुटें, जिनमें 253 बी.ए. या एम.ए. पास थे। दूसरा अभी हाल में रेलवे विभाग में डी ग्रेड—खलासी के 4787 पदों के लिए देश भर से 8 लाख लोगों ने आवेदन किया। इस पद के लिए शैक्षणिक योग्यता सिर्फ 8वीं माँगी गयी थी, जबकि आवेदकों में 50 फीसदी से ज़्यादा ग्रेजुएट, पोस्ट ग्रेजुट, एम.बी.ए., बी.एड. और अन्य डिप्लोमाधारी भी शामिल थे। जब इन नौजवान से जाना गया कि वे ऐसी नौकरी के लिए क्यों आए है, जो उनकी योग्यता से काफी कमतर है तो उनका दो टूक जवाब था कि कई सालों की कोशिश के बाद भी जब उन्हें योग्यता के स्तर की नौकरी नहीं मिल रही थी, तो वे करें भी तो क्या? इस सच्चाई के बावजूद कई बुद्धिजीवी और

मध्यम वर्ग के लोग यह तर्क दे सकते है कि अब तो केन्द्र सरकार की ओर से "रोज़गार गारण्टी योजना" लागू हो गयी है, जिसे पहले ग्रामीण 200 जिलों में शुरू किया था और अब पूरे देश में लागू कर दिया गया है। इस सन्दर्भ में एक बात तो कहीं जा सकती है कि यह "सरकारी योजना" कुछ लोगों पर भ्रम की चादर डालने में तो जरूर सफल रही है। लेकिन जिन लोगों को इस योजना से कुछ उम्मीदें हो, उन्हें अब पता चल रहा है कि जिन 200 ग्रामीण जिलों में इस योजना को लागू किया गया था, उसका परिणाम क्या रहा? एक तो बेरोज़गारों को साल के 365 दिनों में से 100 दिन रोज़गार देने की बात का क्या तुक है, यह तो महान अर्थशास्त्री मनमोहन सिंह और उनकी चारण मण्डली ही बता सकती है। क्योंकि बाकी 265 दिन एक परिवार वाला आदमी क्या करेगा यह इस योजना में कहीं नहीं है। जिन 200 जिलों में इसे शुरू किया गया था वहाँ पाँच लोगों के परिवार को सिर्फ 700 रुपये ही प्राप्त हुए। यानी हर व्यक्ति को प्रतिदिन 38 पैसे। जबकि सरकार स्वयं मानती है कि किसी भी व्यक्ति को अपने आहार के लिए इससे कहीं ज़्यादा राशि की आवश्यकता पड़ती है। असल में इस तंत्र की कोई भी योजना बेरोजगारी को दूर ही नहीं कर सकती है। हाँ, वह सरकारी भ्रष्टाचारियों और घूसखोरों के लिए नियमित आमदनी का तोहफा लेकर जरूर आती है। ऐसे में रोज़गार गारण्टी योजना के भ्रष्टाचार गारण्टी योजना में रूपान्तरित होने में ज़्यादा समय नहीं लगेगा!

दरअसल मुनाफे पर टिकी इस पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति यह कभी नहीं चाहेंगे कि सभी को रोज़गार मिले, क्योंकि सभी को रोज़गार मिल गया तो पूँजीपति या मालिक वर्ग की मोलभाव क्षमता शुन्य होगी और मज़दूरों की अनन्त। इसलिए पूँजीवाद में रोजगारशुदा मज़दूरों को निकाल देने का भय दिखाकर, मजदूरी कम करने और उसे निचोड़ने के लिए हमेशा बेरोजगारों की एक रिज़र्व आर्मी चाहिए होती है। इस आर्मी की संख्या बढ़ना पूँजीवाद के लिए खतरा है। पर इस व्यवस्था के दूरदर्शी पहरेदार और इन सब की सेवा में लगा मीडिया भी इसे रोक नहीं सकता। इसलिए मीडिया द्वारा इस पूँजीवादी व्यवस्था के कुरूप चेहरे को छुपाने की कोशिश पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आधुनिक कॉरपोरेट मीडिया का पक्ष इन पूँजीपतियों के साथ होना स्वाभाविक है, क्योंकि आज पूरे मीडिया पर ही पूँजीपति वर्ग का कब्जा है और तीनों खम्बों की तरह इस धनतंत्र का चौथा खम्बा भी जर्जर होती इस व्यवस्था को टिकाये रखने की कोशिश में लगा हुआ है। फिर भी दुकानदारों, व्यापारियों और धन्नासेठों के इशारों पर चलने वाला मीडिया बेरोज़गारी की सच्चाई के बारे में कितना भी झूठ परोसे लेकिन आम घरों के नौजवानों को बरगला नहीं सकता है क्योंकि बेरोज़गारी का संकट तो उनके सामने मुँह बाए खड़ा है और अब उन्हें धीरे-धीरे यह भी समझ आ रहा है कि यह व्यवस्था और सरकारें उसे दूर नहीं कर सकती है। तब यह सोचने की जरूरत है कि आखिर रास्ता क्या है?

कैसी खुशियाँ आज़ादी का कैसा शोर, राज कर रहे कफनखसोट-मुर्दाखोर!

● श्वेता, दिल्ली

"आज़ादी" कि 60 साल पूरे होते ही इस व्यवस्था की चाकरी में लगा हुआ मीडिया और पूरा शासक वर्ग हमेशा की तरह नशे में चूर था। पिछले 60 सालों की "उपलब्धियाँ" का बखान पूरे ज़ोर-शोर से किया गया। देश में लगातार करोड़पतियों की बढ़ती संख्या, शेयर बाज़ार में आ रही तेज़ी, अर्थव्यवस्था का 8 फीसदी की वृद्धि दर को छुना, देशी पूँजीपति घरानों द्वारा विदेशी पूँजीपतियों की कम्पनियों का अधिग्रहण–इन सब के जरिए भारत की चमकती तस्वीर को पेश किया जा रहा है और सत्ताधारी वर्ग एक ही सुर में भारत के विकास की गाथा का आलाप कर रहा है। और वहीं दूसरी तरफ हाल ही में इस "चमकते भारत" की असली नंगी तस्वीर एक सरकारी रिपोर्ट के ज़रिए सामने आई। नेशनल कमीशन फॉर एण्टरप्राइज़ेज इन द अनऑर्गेनाइज्ड सेक्टर(असंगठित क्षेत्र के उपक्रमों के लिए राष्ट्रीय आयोग) द्वारा भारत के कामकाजी ग़रीबों पर एक रिपोर्ट तैयार गई जिसके अनुसार आज लगभग 84 करोड़ लोग रोज़ाना 20 रुपए से भी कम की आय पर गुज़ारा कर रहे हैं। यही नहीं इसमें से 22 फीसदी लोग रोज़ाना 11.60 रुपए की आय पर गुज़ारा कर रहे थे, 19 फीसदी लोग 11.60 से 15 रुपए की आय पर जी रहे थे और 36 फीसदी लोग 15 से 20 रुपए रोज़ाना की आय पर गुज़ारा कर रहे थे।

खैर, वैसे भी अगर सरकारी पैमाने के अनुसार ग़रीबी रेखा की परिभाषा पर ग़ौर किया जाए तो वह सिवाय एक घटिया मज़ाक के और कुछ भी नहीं है। इस पैमाने के अनुसार अगर प्रतिदिन की आपकी आय 13.60 रुपए है तो आप गरीबी रेखा के नीचे नहीं है। या इसे यों कहा जाए कि अगर आपकी मासिक आय लगभग 400 रुपए हैं तो आप को ग़रीब नहीं समझा जा सकता है। यह पैमाना जिस आधार पर तय किया गया है उससे साफ़ तौर पर पता चलता है कि सरकार का मकसद केवल आँकड़ों के ज़रिए ही गरीबी कम करना है ताकि ज़्यादा से ज़्यादा लोग इस रेखा के ऊपर की श्रेणी में बने रहे और जनता को यह भ्रम बना रहे कि सरकार की नीतियों व कार्यक्रमों के तहत गरीबी लगातार कम हो रही है।

रिपोर्ट में आगे लिखा गया है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों की आबादी का 88 फीसदी, अन्य जातियों का 80 फीसदी और मुसलमानों में से 85 फीसदी लोग रोज़ाना 20 रुपए से भी कम की आय पर जीवन बसर कर रहे थे। गाँव के गरीब किसानों की हालत तो और भी अधिक ख़राब है। उनकी रोज़ाना प्रति व्यक्ति औसत आय 17 रुपए हैं। वैसे इस रिपोर्ट ने काफी हद तक चौतरफा हो रहे विकासों पर बजाए जाने वाले ढोल-नगाड़ों

को शान्त कर दिया है। इस रिपोर्ट ने भूमण्डलीकरण का जाप करने वाले और आर्थिक सुधारों का दावा करने वाले तमाम अर्थशास्त्रियों द्वारा इस व्यवस्था के बनाए रखने के लिए तैयार गए नकाब को उतार फेंका है। इसका लक्ष्य देश की व्यवस्था को बदलना नहीं बल्कि आज की सरकार को चेताना है कि 'देखिये महोदय, भाजपा की सरकार की तरह आप भी कुछ 'भारत उदय' जैसी बात मत करिये। इससे जनता मूर्ख नहीं बनती। कहीं आपका भी वैसा ही हश्र न हो जो राजग सरकार का हुआ था। इसलिए थोड़ा सा सम्भल जाइये!'

जहाँ, एक ओर पिछले कुछ वर्षों में लगातार पूँजीपति घरानों की आमदनी में 150 से 200 गुणा की बढ़ोत्तरी हुई है, वही दूसरी ओर एक बहुत बड़ी आबादी पूँजी की मार से बेहाल हो रही है। अमीर-गरीब के बीच की खाई लगातार गहरी और चौड़ी हो रही है। नए-नए गाड़ियों के मॉडल, शॉपिंग मॉल, एयरकण्डीशण्ड अस्पताल परजीवी जमात की ऐय्याशियों के लिए तैयार किए जा रहें है और इन सब के आधार पर ही सरकार 'विकास की अवधारणा' तय करती है। आँखों को चुँधिया देने वाली इस चकाचौंध में विलासिता के टापुओं से दूर खदेड़े जाने वाली एक बहुत बड़ी आबादी आँखों से ओझल हो रही है जो अत्यन्त अमानवीय परिस्थितयों में अपना जीवन बसर करने को मजबूर है। कुल मिलाकर कहा जाए तो इस तथाकथित "विकास" का फ़ायदा तो केवल आबादी के छोटे हिस्से को ही प्राप्त है। आम जनता की स्थितियाँ तो बद से बदतर हो रही है। वैसे भी पूँजीवादी व्यवस्था का मकसद पूरे समाज का हित करना नहीं है। किसी भी प्रकार का उत्पादन यहाँ केवल मुनाफे के लिए किया जाता है। इसलिए इस तरह के किसी भी रिपोर्ट के सामने आ जाने के बावजूद सरकार से समस्या के समाधान की उम्मीद नहीं की जा सकती। इस व्यवस्था में सरकार चलाने की बागडोर चाहे किसी भी चुनावी पार्टी के हाथ में हो, उनसे किसी भी प्रकार के बदलाव की उम्मीद करना बेकार है। वे ज्यादा से ज्यादा इसी व्यवस्था की चौहद्दियों के भीतर पैबन्दसाज़ी के नए-नए उपक्रमों की तलाश करते है ताकि आम जनता के गुस्से की आग पर ठण्डे पानी की थोड़ी छीटें छिड़ककर उसे शान्त किया जाए।

लेकिन जिस आम जनता पर महँगाई, बेरोज़गारी, तबाही का कहर बरपा किया जा रहा है, वह चुपचाप सब कुछ सहती रहेगी, ऐसा नहीं होगा। ऐसे में संवेदन छात्रों-युवाओं को सोचना होगा की आखिर विकल्प क्या है?

रिलायंस द्वारा आन्ध्र प्रदेश में पर्यावरण की घातक तबाही

(पेज 44 से जारी)

उद्योग हैं। इनमें से कोई भी चीज़ इंसान की बुनियादी आवश्यकता नहीं है। ये तमाम कारगुजारियाँ सिर्फ़ और सिर्फ़ मुनाफ़ाखोर पूँजीपतियों की ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने की हवस है। इनकी यह हवस न सिर्फ़ तटवर्ती इलाकों में रहने वाली आम आबादी के जीवन को ख़तरे और जोख़िम में डाल रही है बल्कि पर्यावरण और पारिस्थितिकी के सन्तुलन को बिगाड़ रही हैं। मुनाफ़े पर आधारित इस पूँजीवादी व्यवस्था से हम और किसी बेहतर चीज़ की उम्मीद कर भी नहीं सकते क्योंकि इस पूरी व्यवस्था के केन्द्र में इंसानी ज़िन्दगी है ही नहीं। इसका केन्द्र मुनाफ़ा है। इस मुनाफ़े की अन्धी दौड़ में यह किसी भी हद तक जा सकती है। मनुष्य की जान की कोई कीमत नहीं है तो पर्यावरण की क्या कीमत होगी? पूँजीवाद में कोई भी पूँजीपति पर्यावरण और मानवीय जीवन जैसी चीज़ों के बारे में सोचने का जोख़िम नहीं उठा सकता। अगर वह लगातार अपने मुनाफ़े के बारे में नहीं सोचता और गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा में अन्य पूँजीपतियों को निगल जाने के बारे में नहीं सोचता तो जो ऐसा सोचता है वह उसे निगल जाएगा। मतलब कि उसे तुरत-फुरत मुनाफ़ा चाहिए। लम्बे दौर के फ़ायदे के बारे में सोचेगा तो उसे फ़ायदे को देखने के लिए ज़िन्दा नहीं बचेगा! इसलिए फटाफट मुनाफ़ा पीटो, चाहे इसके लिए पर्यावरण को तबाह करना पड़े, चाहे पूरी धरती को ही क्यों न तबाह करना पड़े। ऐसा ही हो भी रहा है। पूँजीवाद मुनाफ़े की अन्धी हवस में पूरी दुनिया को तबाह कर ही रहा है।

सूनामी की भीषण तबाही और जानमाल की बर्बादी के बाद केन्द्र सरकार और राज्य सरकारें लगातार मैंग्रोव के संरक्षण के लिए चेतावनियाँ देती रहती हैं। यह बात वैज्ञानिक पहले ही बता चुके हैं सूनामी का नुकसान कहीं अधिक कम होता यदि मैंग्रोव वन सुरक्षित बचे होते। तो क्या सरकार आज मैंग्रोव वनों के न होने के कारण सूनामी की उस विकराल तबाही को भूल गयी? ऐसी बात नहीं है। लेकिन यह सरकार जो उन्हीं पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी का काम करती है जो पर्यावरण को तबाह कर रहे हैं, उससे आप यह उम्मीद नहीं रख सकते कि वह ऐसा करने से उन पूँजीपतियों को रोकेगी। उसी सरकार ने तो रिलायंस जैसे मुनाफ़ाखोरों को पर्यावरण को बर्बाद करने का लाइसेंस दे दिया है और आन्ध्र प्रदेश के कुछ आख़िरी बचे मैंग्रोव को भी उनके हवाले कर दिया है। पर्यावरण एक ऐसी व्यवस्था में ही बचाया जा सकता है जहाँ मनुष्य न तो पर्यावरण का स्वामी या व्यापारी होता है और न ही उसका गुलाम। पर्यावरण एक ऐसी व्यवस्था में ही बचाया जा सकता है जहाँ मुनाफ़ा केन्द्र न हो और मानव समाज पर्यावरण के साथ सामंजस्य और साहचर्य में रहता हो।

राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित नौजवानों के लिए कुछ ज़रूरी किताबें

शहीदेआज़म की जेल नोटबुक	भगतसिंह	65.00
भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज		190.00
क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास	शिववर्मा	10.00
भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति	बिपन चन्द्र	10.00
छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें	आह्वान पुस्तिका-1	10.00
आरक्षण : पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष	आह्वान पुस्तिका-2	10.00
आतंकवाद के बारे में : विभ्रम और यथार्थ	आह्वान पुस्तिका-3	10.00
ईश्वर का बहिष्कार	राधामोहन गोकुलजी	20.00
लौकिक मार्ग	राधामोहन गोकुलजी	20.00
धर्म का ढकोसला	राधामोहन गोकुलजी	20.00
स्त्रियों की स्वाधीनता	राधामोहन गोकुलजी	20.00

विहान आपके बीच आया है एक अँधेरे समय में अँधेरे के बारे में सच्चाइयाँ बयान करते और उजाले की उम्मीदों के गीतों को लेकर

विहान पेश करता है

उजाले के दरीचे

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, मुक्तिबोध, शशि प्रकाश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पॉल रॉबसन के क्रान्तिकारी गीत

प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें :

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ

फोन : 0522-2786782

विहान, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094

फोन : 011-65976788

क्या जुल्मतों के दौर में भी गीत गाये जायेंगे
हाँ, जुल्मतों के दौर के ही गीत गाये जायेंगे।
बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

Side A :

1. शहीदों के लिए	शशि प्रकाश
2. दरबारे-वतन में	फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
3. आँधी के झूले पर झूलो	गजानन माधव मुक्तिबोध
4. साथियो! आगे बढ़ो	शशि प्रकाश
5. तोड़ो ये दीवारें	शशि प्रकाश
6. चलो फिर से मुस्कराएँ	फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
7. जारी है	सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
8. पैसा	

Side B :

1. सिपाही का मर्सिया	फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
2. रहबरे-मुल्को कौम बता	फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
3. बीस्तीर्णो दुपारेर	पॉल रोब्सन
4. रउरा सासना के बाटे ना	गोरख पाण्डेय
5. दुनिया के हर सवाल के	शशि प्रकाश
6. इन्तेसाब	फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
7. हम मेहनतक़श	फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
8. युद्धबन्दियों का गीत	शशि प्रकाश
9. इण्टरनेशनल	यूजीन पोतिए

विहान टोली

मुख्य स्वर और इलेक्ट्रिक एवं अकाउस्टिक गिटार–**अभिनव**

स्वर एवं ढपली–**तपीश**, तबला–**नवकिशलय**

सहायक स्वर–**पवन, प्रसेन, अजय, लता, योगेश, विजय** और **गौरव**

कैसेट (90 मिनट)–रु. 60, ऑडियो सीडी–रु. 125

ईमेल : vihan_disha@rediffmail.com

वेबसाइट : www.betarecords.com/vihan

Muktikami Chhatron-Yuvaon Ka Ahwaan•January-March2008
RNI Title Verification NO. DELHIN 14531/29/1/2007

क्रान्तिकारी नवजागरण के तीन वर्ष

भगतसिंह और उनके साथियों की शहादत की 75वीं वर्षगाँठ और जन्मशताब्दी के तीन ऐतिहासिक वर्षों के दौरान नए जन मुक्ति संघर्ष की तैयारी के संकल्प और सन्देश के साथ क्रान्तिकारी छात्रों–युवाओं की देशव्यापी

(23 मार्च 2005–28 सितम्बर 2008)

स्मृति संकल्प यात्रा

हम सभी सच्चे युवाओं का आह्वान करते हैं!
हम तमाम ज़िन्दा लोगों को आवाज़ देते हैं!!
हम तूफान के अग्रदूतों को आमंत्रित करते हैं!!!

भगतसिंह की वीरता और कुर्बानी से तो पूरा देश परिचित है लेकिन इस देश के पढ़े-लिखे नौजवान तक यह नहीं जानते कि 23 वर्ष की छोटी सी उम्र में फांसी का फन्दा चूमने वाला वह जाँबाज़ नौजवान कितना ओजस्वी, प्रखर और दूरदर्शी विचारक था! यह हमारी जनता का दुर्भाग्य है और सत्ताधारियों की साज़िश का नतीजा है। अब यह हमारा काम है कि हम भगतसिंह और उनके साथियों के विचारों को जन-जन तक पहुँचाएँ, उनकी स्मृति से प्रेरणा लें और उनके विचारों के आलोक में अपने देशकाल की परिस्थितियों को समझकर नई क्रान्ति की दिशा तय करें और फिर उस राह पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ें।

भगतसिंह के विचार क्षितिज पर अनवरत जलती मशाल की तरह हमें दिशा दिखला रहे हैं। अब गाँव-गाँव और शहर-शहर में और तमाम कालेजों-विश्वविद्यालयों में नौजवानों और छात्रों को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन बनाने होंगे। उन्हें चुनावबाज़ मदारियों का पिछलग्गू बनने से बचना होगा। इसके बाद, जैसा कि जेल की कालकोठरी से युवाओं को भेजे गये अपने सन्देश में भगतसिंह ने कहा था, छात्रों-नौजवानों को कारखानों के मज़दूरों और गाँव की झोपड़ियों तक जाना होगा और तमाम मेहनतकशों को संगठित करना होगा। यही सन्देश लेकर हम इस देश के हर जीवित युवा हृदय तक पहुँचना चाहते हैं।

साथियो! बैठे-बैठे सोचते रहने से तो हर राह मुश्किल लगती है। राह की कठिनाइयों को यात्रा शुरू करने के बाद ही दूर किया जा सकता है। भगतसिंह और उनके साथियों का सपना एक जलता हुआ प्रश्न बनकर हमारी आँखों में झाँक रहा है। उनकी विरासत हमें ललकार रही है और भविष्य हमें आवाज़ दे रहा है। एक ज़िन्दा क़ौम के नौजवान इसकी अनसुनी नहीं कर सकते। हम एक नई क्रान्ति की तैयारी के लिए, एक नये क्रान्तिकारी नवजागरण का सन्देश पूरे देश में फैला देने के लिए आपका आह्वान करते हैं।

दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की ओर से चलाये जा रहे स्मृति संकल्प यात्रा के पर्चे का अंश